संस्कृति

गरबा गुजरात राज्य का पारंपरिक और भक्ति नृत्य है जिसे 'शक्ति' अर्थात देवी दुर्गा की आराधना को समर्पित नवरात्रि उत्सव के अवसर पर प्रस्तुत किया जाता है। इस नृत्य में नर्तक/नर्तकियां एक घेरे में नृत्य करते हैं जिसके साथ-साथ वे साधारण भाव-भंगिमाओं का प्रयोग करते हुए गीत गाते हैं। गरबा सामाजिक-आर्थिक, धार्मिक ढांचों से परे एकता और समानता का प्रतीक है। गुजरात के 'गरबा नृत्य को वर्ष 2023 में यूनेस्को' द्वारा मानवता की अमूर्त सांस्कृतिक विरासत में शामिल किया गया है।

अंक : 26

अर्द्धवार्षिक पत्रिका

सत्यमेव जयते

भारत सरकार

संस्कृति मंत्रालय

संस्कृति

सत्यमेव जयते

भारत सरकार
संस्कृति मंत्रालय

संस्कृति

सांस्कृतिक विचारों की प्रतिनिधि
अर्द्धवार्षिक पत्रिका

मार्च, 2024 अंक–26

संरक्षक :
गोविंद मोहन, सचिव

मुख्य परामर्शदाता :
संजुक्ता मुदगल, अपर सचिव

सम्पादक :
डॉ. रामचन्दर रमेश आर्य, निदेशक

उप सम्पादक :
शिशिर शर्मा, उप निदेशक

संपादन सहयोग :
राजभाषा प्रभाग के समस्त पदधारी

विशेष संपादन सहयोग :
नरेश अरोड़ा
इकबाल अहमद

मुख्य आवरण : गरबा नृत्य

अंतिम आवरण : गरबा नृत्य

संपादकीय पता :
डॉ. रामचन्दर रमेश आर्य, निदेशक (राजभाषा)
केन्द्रीय सचिवालय ग्रंथागार, भू–तल,
शास्त्री भवन, डॉ. राजेन्द्र प्रसाद रोड,
नई दिल्ली–110001
☎ 91 011–23383032
ई–मेलः dirol-culture@nic.in
hindicsl@gmail.com

(यह पत्रिका मंत्रालय की वेबसाइट : www.indiaculture.nic.in पर उपलब्ध है)

भारत सरकार
संस्कृति मंत्रालय
शास्त्री भवन, नई दिल्ली–110001

संस्कृति पत्रिका में प्रकाशित लेखों में व्यक्त विचार और तथ्य लेखकों के हैं, उनसे मंत्रालय या सम्पादक मण्डल का सहमत होना आवश्यक नहीं है और न ही वे उसके लिए जिम्मेदार हैं।

जी. किशन रेड्डी
संस्कृति, पर्यटन एवं
उत्तर पूर्वी क्षेत्र विकास मंत्री
भारत सरकार

G. Kishan Reddy
Minister of Culture, Tourism and
Development of North Eastern Region
Government of India

संदेश

भारत में जम्मू-कश्मीर से लेकर कन्याकुमारी तक विभिन्न प्रकार की भाषाएँ, परम्पराएं अलग अलग धार्मिक आस्थाएँ, देखने-सुनने को मिलती हैं, फिर भी भारत के लोगों को एक साथ प्यार और सद्भावपूर्ण और मिल-जुलकर रहते हुए देखकर किसी के भी मन में यह जिज्ञासा उत्पन्न हो सकती है कि इतनी विविधताओं के रहते यह समग्रता कैसे संभव है। इसके पीछे का कारण है हमारे भारत की व्यापक सांस्कृतिक परम्परा और विचारधारा। ऐसी विचारधारा जिसमें सभी को अंगीकार करने की क्षमता है। विश्व में जितनी भी संस्कृतियाँ हुई हैं, उन सभी के अंग भारतीय संस्कृति में समाहित हैं। मानवोत्थान और मानव जीवन के वास्तविक लक्ष्य के बारे में जितना विस्तार से हमारे सनातन धर्मग्रंथों में विवेचन किया गया है, उतना किसी अन्य दर्शनशास्त्र में देखने को नहीं मिलता है। भारतीय संस्कृति में मानव कल्याणार्थ जो भी नियम एवं पुरुषार्थ हो सकते हैं उनके संबंध में हमारे वेदों, पुराणों, गीता, रामायण, महाभारत आदि धर्मग्रंथों में विस्तार से उल्लेख किया हुआ है। भारतीय संस्कृति में भौतिक सुख-समृद्धि की अपेक्षा आत्मिक सुख संवृद्धि पर और नश्वर वस्तुओं के स्थान पर शाश्वतता के सिद्धांत को अधिक महत्व दिया गया है।

सांस्कृतिक पहलुओं पर प्रकाश डालती इस पत्रिका के 26वें अंक के प्रकाशन के लिए मेरी ओर से हार्दिक शुभकामनाएं।

(जी. किशन रेड्डी)

अर्जुन राम मेघवाल
Arjun Ram Meghwal

विधि एवं न्याय राज्य मंत्री (स्वतंत्र प्रभार)
व
संसदीय कार्य और संस्कृति राज्य मंत्री
भारत सरकार, नई दिल्ली-110001
MINISTER OF STATE (I/C) FOR LAW AND JUSTICE
AND
MINISTER OF STATE FOR
PARLIAMENTARY AFFAIRS AND CULTURE
GOVERNMENT OF INDIA,
NEW DELHI-110001

संदेश

किसी भी देश और समाज की पहचान उसकी संस्कृति से होती है। जिस समाज की संस्कृति जितनी समृद्ध एवं वैभवशाली होती है, वह समाज उतना ही समुन्नत और गौरवशाली कहलाता है। भारत की सनातन संस्कृति विश्व की प्राचीनतम संस्कृतियों में से एक और बहुआयामी है। भारतीय संस्कृति की विविधता से परिपूर्ण एवं वैभवशाली विरासत की अपनी एक अलग ही पहचान है।

यहाँ की संस्कृति में प्राचीन वेदों की प्रामाणिकता, गौतम बुद्ध, कबीर, नानक, महावीर द्वारा वर्णित मानव जीवन की सार्थकता एवं जीवन के लक्ष्यों के बारे में दिए गए उनके संदेशों की अमिट छाप देखी जा सकती है। धर्म, अध्यात्मवाद, ज्ञान-विज्ञान, नीति-विधान, जीवन के संस्कारों आदि के बारे में जितनी गहरी विवेचना भारतीय संस्कृति में पायी जाती है, उतनी अन्यत्र दुर्लभ है।

हमारा देश विविधताओं से भरा हुआ है जहाँ विश्व के सभी धर्मों को मानने वाले, विभिन्न वेशभूषा, खान-पान, जीवन शैली को अपनाने वाले लोग रहते हैं और सभी समाजों की अपनी अलग-अलग मानयताएं एवं आस्थाएं हैं। इन सभी विविधताओं के होते हुए भी हम सभी भरत एक अटूट और शाश्वत एकता के सूत्र में बंधे हुए हैं तथा विभिन्न धार्मिक एवं भौगोलिक विविधताओं के बावजूद हमारी एकता अविच्छिन्न बनी रहती है। यही हमारी भारतीय संस्कृति की विशेषता है, जिसे देखकर अंतर्राष्ट्रीय जगत भी आश्चर्यचकित हुए बिना नहीं रह सकता। इसलिए हम सभी के मन में अपने देश की सांस्कृतिक विचारधारा के प्रति स्वाभिमान की भावना होनी चाहिए।

संस्कृति मंत्रालय की हिंदी पत्रिका 'संस्कृति' के 26वें अंक के प्रकाशन के अवसर पर मैं अपनी शुभकामनाएं देता हूँ।

(अर्जुन राम मेघवाल)

मीनाक्षी लेखी
MEENAKSHI LEKHI

विदेश एवं संस्कृति राज्य मंत्री
भारत सरकार,
नई दिल्ली-110001
MINISTER OF STATE FOR
External Affairs & Culture
Government of India, New Delhi-110001

संदेश

मानव को अपना जीवन सही ढंग से जीने की कला अपनी सांस्कृतिक विरासत से ही मिलती है। प्राचीन काल से हमारे पूर्वजों द्वारा समाज के व्यवस्थित संचालन के लिए जो नियम एवं सिद्धांत प्रतिपादित किए जाते रहे हैं, वे आज भी उतने ही प्रासंगिक हैं जितने उस जमाने में हुआ करते थे। समय परिवर्तन के साथ हमारे सामाजिक और नैतिक मूल्यों में बदलाव हुआ है। हमारे खानपान, पहनावे, आचार-विचार और यहाँ तक कि हमारे पारिवारिक और सामाजिक संबंधों की प्राथमिकताओं में भी बदलाव हो रहा है। ऐसा केवल भारत में ही नहीं, वरन वैश्विक स्तर पर हो रहा है। इन सबके बावजूद भारत की प्राचीन सांस्कृतिक विरासत के प्रकाश स्तम्भ आज भी हमारे बीच में प्रकाशमान हैं और सदैव हमें प्रेरणा देते रहते हैं। भाषा, धर्म, क्षेत्र और रीति-रिवाजों की दृष्टि से भारतीय समाज में विविधता दिखाई देती है किन्तु सांस्कृतिक दृष्टि से हम सब एक हैं और यही सांस्कृतिक एकजुटता हमारे देश की ताकत है।

ऐसे ही जीवन मूल्यों को दर्शाती मंत्रालय की 'संस्कृति' पत्रिका के 26वें अंक के प्रकाशन के लिए मेरी ओर से बहुत-बहुत शुभकामनाएं।

मीनाक्षी लेखी

(मीनाक्षी लेखी)

गोविंद मोहन
सचिव
Govind Mohan
Secretary

भारत सरकार
संस्कृति मंत्रालय
नई दिल्ली-110001
GOVERNMENT OF INDIA
MINISTRY OF CULTURE
NEW DELHI-110001

संदेश

विविधता में एकता हमारे देश की पहचान है। इसी विशेषता के कारण ही हमारे देश भारत को वैश्विक स्तर पर एक सुसंगठित देश के रूप में जाना जाता है। विश्वभर के पर्यटक भारत में भ्रमण के लिए आते रहते हैं और यहाँ की संस्कृति, कला, संगीत, खान-पान और लोगों के व्यवहार से अवगत होते हैं। कुछ तो ऐसे पर्यटक भी होते हैं जो यहाँ की सांस्कृतिक विविधताओं और जीवन मूल्यों को देखकर इतने अधिक आकर्षित होते हैं कि वे इसी देश में स्थायी रूप से बस जाते हैं। हालांकि बदलते समय के साथ भारतीय संस्कृति में भी आधुनिकता का प्रभाव सर्वत्र देखने को मिलता है फिर भी हमारी कुछ ऐसी प्राचीन और शाश्वत मान्यताएं हैं जिनसे भारत के सभी लोग गहराई से जुड़े हुए हैं। वस्तुतः यहाँ के नैतिक और आध्यात्मिक मूल्यों का कुछ ना कुछ असर प्रत्येक जन-समुदाय पर पड़ता है चाहे वह किसी भी धार्मिक समुदाय से संबंध रखता हो। सभी समुदाय अपने-अपने उत्सव दूसरे समुदायों के साथ मिलकर मनाते हैं। परस्पर सद्भाव और भाईचारे के साथ रहते हैं। एक खास बात हमारी संस्कृति में यह भी है कि इसमें विश्व की अन्य संस्कृतियों की जो भी अच्छी बातें हैं, उन्हें स्वीकार किया गया है। इसलिए यह एक सामासिक संस्कृति का रूप ले चुकी है।

उपरोक्त तथ्यों पर आधारित 'संस्कृति' पत्रिका के 26वें अंक के प्रकाशन के लिए मेरी हार्दिक मंगलकामनाएं।

(गोविंद मोहन)

संजुक्ता मुदगल
अपर सचिव
SANJUKTA MUDGAL
Additional Secretary

भारत सरकार
संस्कृति मंत्रालय
नई दिल्ली-110001
GOVERNMENT OF INDIA
MINISTRY OF CULTURE
NEW DELHI-110001

संदेश

भारतीय संस्कृति अपनी प्राचीनता प्रवाहशीलता, समन्वय भाव और विचार सहिष्णुता के गुणों के कारण पूरे विश्व में विख्यात है। सामाजिक एवं मानवमात्र के कल्याण के लिए इसमें भारतीय वैदिक विचारधारा के साथ-साथ विश्व की अन्य श्रेष्ठ परम्पराओं और मान्यताओं को भी समान रूप से स्थान दिया गया है। उपनिषद् के एक वाक्य 'वसुधैव कुटुम्बकम्' के अनुसार इसमें पूरे विश्व को एक परिवार माना गया है और व्यक्ति विशेष के स्थान पर मानवमात्र के कल्याण और उसके सर्वांगीण विकास की भावना व्यक्त की गई है। इसमें आशावाद और विश्व कल्याण एवं विश्वबंधुत्व की बात की गई है। 'आशा हि परमं ज्योतिः नैराश्यं परमं तम': अर्थात् आशा ही प्रकाश है और निराशा एक घनघोर अंधकार की तरह है। इसी प्रकार ''सर्वे भवन्तु सुखिनः, सर्वे सन्तु निरामया, सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुखभागभवेत'' के अनुसार सब सुखी हों, सभी रोगमुक्त रहें, सभी मंगलमय घटनाओं के साक्षी बनें और किसी को भी दु:ख का भागी न बनना पड़े। कहने का तात्पर्य यह है कि भारतीय संस्कृति में वे सभी शाश्वत एवं सार्वभौमिक तत्व विद्यमान हैं जो पूरे संसार को एक नई और सकारात्मक दिशा प्रदान करते हैं। इसलिए यह सभी के लिए अनुकरणीय है।

'संस्कृति' पत्रिका के 26वें अंक के प्रकाशन के लिए मेरी ओर से पूरे संपादन मंडल को हार्दिक शुभकामनाएं।

संजुक्ता मुदगल

(संजुक्ता मुदगल)

डॉ. आर. रमेश आर्य
निदेशक
Dr. R. Ramesh Arya
Director

सत्यमेव जयते

संपादकीय

किसी भी देश अथवा समाज की संस्कृति विभिन्न कालखंडों में मानव द्वारा अपनाए गए विभिन्न वैचारिक मूल्यों के परिणामस्वरूप उसके जीवन में आए क्रमिक बदलावों को परिलक्षित करती है। समय परिवर्तन के साथ-साथ सांस्कृतिक जीवन-मूल्यों में भी परिवर्तन आना स्वाभाविक है। आज की जो हमारी जीवनशैली है, वह वर्षों के दौरान हुए अनेक बदलावों का ही परिणाम है। ये बदलाव किसी एक विशेष भौगोलिक क्षेत्र तक सीमित नहीं होते बल्कि सार्वभौमिक होते हैं। प्रौद्योगिकी विकास के इस युग में पूरे विश्व के लोग एक दूसरे के सम्पर्क में आ रहे हैं, आपस में एक दूसरे के समाज एवं संस्कृति के बारे में विचार साझा कर रहे हैं जिससे विश्वबंधुत्व की भावना सशक्त हुई है। विश्व के अन्य सभी देशों की जिस प्रकार अपनी-अपनी भाषा, संस्कृति, आचार-विचार और सामाजिक मान्यताएं हैं, इसी प्रकार से हमारे भारत की भी एक समृद्ध सांस्कृतिक विरासत है जिसका उदाहरण विश्व के किसी अन्य देश में देखने को नहीं मिलता है। भारतीय संस्कृति मूल रूप से आध्यात्मिकता और कर्मशीलता के सिद्धांत पर आधारित है जिसके अनुसार हम सभी अपने जीवन व्यवहार में सांसारिक दायित्वों को निभाते हुए अपने परिवार, समाज और देश को भौतिक दृष्टि से प्रगतिशील और साधन-सम्पन्न और समृद्ध बनाने का प्रयास तो अवश्य करें किंतु इसी के साथ हमें यह भी याद रखना है कि मानव-मात्र का लक्ष्य केवल भौतिक साधन सम्पन्नता को प्राप्त करने का नहीं है बल्कि उसका वास्तविक लक्ष्य जीवन को सार्थक बनाने का है। वर्तमान अंक में हमने **'मानवता की श्रेष्ठ धरोहर : भारतीय संस्कृति, मूल्य और आचार : ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य, पंजाब के लोकवाद्य यंत्र, शबरिमला तीर्थयात्रा : तत्वमसि खोज की यात्रा, तथा भारतीय साहित्य में निहित नैतिक मूल्य'** आदि रोचक एवं ज्ञानवर्धक लेख शामिल किए हैं। अन्य लेख भी समान रूप से सूचनाप्रद एवं उपयोगी हैं जोकि पाठकों को पसंद आएंगे।

पत्रिका का 26वां अंक प्रबुद्ध पाठकों को समर्पित करते हुए मुझे हर्ष का अनुभव हो रहा है। आशा है कि पाठकगण पूर्व की भांति इस अंक के बारे में भी अपने अमूल्य विचारों से हमें अवश्य अवगत कराते रहेंगे।

(डॉ. रामचन्दर रमेश आर्य)

विषय क्रम

पृष्ठ संख्या

1. आदिवासी कला एवं संस्कृति की समकालीन चुनौतियाँ 1-4
डॉ. जयंतिलाल बी. बारीस

2. गोवा राज्य में हिन्दी का प्रयोग, प्रशंसनीय कार्यान्वयन, प्रगतिगत प्रचार-प्रसार 5-13
डॉ. शंभू बा. प्रभुदेसाई

3. जल-भारतीय संस्कृति के साथ बंधन 14-16
डॉ. अमित भट्टाचार्य

4. पंजाब के लोकवाद्य यंत्र 17-24
प्रोफेसर सुखदेव सिंह मिन्हास

5. परंपराओं की थाती : कोहबर 25-29
डॉ. आशा पाण्डेय

6. भारतीय कृषि संस्कृति 30-37
आशुतोष कुमार

7. मानवता की श्रेष्ठ धरोहर: भारतीय संस्कृति 38-44
पार्थसारथि थपलियाल

8. भारतीय ज्ञान परम्परा : प्रारूप एवं भविष्य (निज व्यक्तित्व की तलाश) 45-52
डॉ. चन्द्रकांत तिवारी

9. भारतीय संस्कृति और हिंदी 53-59
प्रो. खेमसिंह डेहरिया

10. मूल्य और आचार : ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य 60-65
डॉ. साकेत कुमार सहाय

11. प्रार्थना-भारतीयता की पहचान 66-69
डॉ. यति शर्मा

12. रामचरितमानस में चित्रित पारिवारिक परिदृश्य 70-74
डॉ. सुषमा देवी

13. लोक-साहित्य में पर्यावरण चेतना 75-78
गोवर्धन यादव

14. शबरिमला तीर्थयात्रा : तत्त्वमसि खोज की तीर्थयात्रा 79-84
डॉ. सी. जे. प्रसन्न कुमारी

15. हिंदी का वैश्वीकरण और भविष्य की चुनौतियाँ – कुछ भाषाई समाधान 85-90
शिव कुमार निगम

16. कला संस्कृति के संवर्धन में महिलाओं की भूमिका 91-95
कल्पना वाजपेयी

17. भारतीय साहित्य में निहित नैतिक मूल्य 96-100
उर्मिला कुमारी

आदिवासी कला एवं संस्कृति की समकालीन चुनौतियाँ

डॉ. जयंतिलाल बी. बारीस
आर. के. देसाई महाविद्यालय,
वापी (गुजरात)

भारत की आदिम कला एवं संस्कृति बहुत समृद्ध रही है। यहाँ आदि-अनादि काल से परम्पराओं का संचरण होता आया है। भारत के गुफाकालीन चित्र, हड़प्पा, मोहनजोदड़ो सभ्यता से प्राप्त अद्भुत सांस्कृतिक वैभव के साक्ष्य हैं। किसी भी सभ्यता की पहचान उसकी विशिष्ट संस्कृति से होती है। ऐसी ही संस्कृति भारतीय आदिवासी संस्कृति के संदर्भ में देखने को मिलती है। आदिवासी कला परंपरा के स्रोत इनके सांस्कृतिक उत्सव में आज भी वैसे ही देखने को मिलते हैं। उत्सव पर यह कलात्मक दृश्य एवं प्रदर्शनकारी कला रूपों, जैसे- भित्ति अलंकरण, वस्तुसज्जा, नृत्य, नाट्य एवं संगीत का अद्भुत वैभव देखने को मिलता है। भारत के अनेक राज्यों में आदिवासियों का बसाव बहुलता के साथ है। इनकी क्षेत्रीय विविधता के साथ अलग-अलग संस्कृति के बिम्ब हैं। जैसे मध्य प्रदेश में गोंड पेंटिग, छत्तीसगढ़ एवं उत्तर प्रदेश डोंगरा शिल्प, राजस्थान में मंडना, बिहार में मधुबनी पेंटिग, महाराष्ट्र वर्ली पेंटिंग, आंध्र प्रदेश में लेदर पपेट पेंटिंग, कर्नाटक में में सूर पेंटिंग, पश्चिम बंगाल में पटवा पेंटिंग, उड़ीसा में पटचित्र एवं पूर्वांचल राज्य में भी सांस्कृतिक वैभव है।

भारतीय आदिवासी कला इतिहास के संदर्भ में ध्यान आकर्षित करें, तो गुफाकालीन आदिमानव से लेकर समकालीन दौर तक इस कला परंपरा में कई सांस्कृतिक उतार-चढ़ाव देखने को मिलते हैं। यह किसी भी सांस्कृतिक परम्परा में एक स्वाभाविक क्रम है कि संस्कृति में समय काल के अनुसार परिवर्तन होकर नए कलेवर चढ़ते जाते हैं। यह कार्य भारतीय आदिवासी कला के संदर्भ में भी देखने को मिलता है। पाश्चात्य का विलय रूप खासकर दृश्य एवं प्रदर्शन कला क्षेत्र में खूब देखने को मिल रहा है। भारत की आदिवासी कला में चित्रांकन, नृत्य, गीत, वस्तु सौंदर्यीकरण का पाश्चात्य फ्यूजन रूप बहुत देखा जाने लगा है। जैसे इन दिनों विभिन्न सांस्कृतिक आयोजनों में आदिवासी गीत के साथ आधुनिक गीतों का संयोजन सुनने को मिल रहा है। अन्य उदाहरणों

में आदिवासी अंगालेखन में गोदना (टैटु) की प्राचीन परंपरा रही है। अंगालेखन की प्रथा धार्मिक आस्था, सौंदर्य लालसा और मानवीय आकांक्षाओं पर आधारित है। इन अभिप्रायों में फूल, बावड़ी, चौक, पलंग (पद चिन्ह), मोरियो (मोर), सितावाडी, मासली (मछली), आम्बों (आम्रवृक्ष), खजूरी-रोकड़ी (वृक्ष), मोढ़बाकिया (वक्राकार), आंखियाँ, दाढ़ी, लाड़ा-लाड़ी (वर-वधु), विषु (बिच्छु), आदि प्रमुख हैं। लेकिन आज इन पारंपरिक प्रतीकों ने पाश्चात्य संसर्ग प्राप्त कर मिश्रित रूप ले लिया है। आज अंगालेखन का चलन पहले की तुलना में सभी जाति वर्ग में तेजी से बढ़ने लगा है। यह देसी एवं विदेशी विलय रूप में चल रहा है। लेकिन आदिवासी अंगालेखन के मूल स्वरूप में यह विद्यमान नहीं हैं। आज के रूपाकार बदल गए हैं, जैसे हाथ पर कोई ध्येय वाक्य, श्लोक या धार्मिक लाइन लिखना। ऐसा लगता है कि विज्ञापन की टैगलाइन लिखी गई हो। राम, हनुमान, शिव के चित्र, स्वयं का व्यक्ति चित्र, माँडना, दिल (प्यार के प्रतीक) बनाकर उसमें प्रेमी जोड़े का नाम अंकित करना एवं आधुनिक डिजाइन का प्रचलन ज़ोर-शोर से होने लगा है।

वास्तुकला के क्षेत्र में भी भारतीय आदिवासी आवास की झोपड़ी को आधुनिक रूप देकर देशी एवं विदेशी मिश्रित रूप बहुत देखने को मिल रहे हैं। कई बड़े प्रतिष्ठानों (सरकारी भवन, होटल, सार्वजनिक स्थल) में आदिवासी भ्रम रूपी झोपड़ी बनाई जाने लगी है। इसमें आदिवासी वास्तुकला का आवरण देने की कोशिश की जाती है, लेकिन ऊपरी सज्जा जैसे केलु एवं कई आंतरिक सज्जा के उपयोग की वस्तु को प्लास्टिक रूप देकर सजाया जाता है। यह आदिवासी झोपड़ी के प्रतिरूप मात्र हैं जो सिर्फ अल्पाहार ग्रहण करें, इतने समय के लिए ही ठीक है। इसमें वास्तविक आदिवासी स्थापत्य की आत्मा नही है।

प्रदर्शनकारी कला में मेवाड़ की सुप्रसिद्ध भील आदिवासी की पारंपरिक नृत्य-नाटिका गंवरी में इन दिनों विदेशी एवं आदिवासी संस्कृति के मिश्रित रूप देखने को मिल रहे हैं। गंवरी के प्रारम्भिक स्रोत में नृत्य-नाट्य में प्रयोग किए जाने वाले मुखौटे मिट्टी के हुआ करते थे। धीरे-धीरे यह रूप लकड़ी एवं अब प्लास्टिक रूप में तब्दील हो गए हैं। ऐसे ही पूरा गंवरी का कॉस्टयूम बदल गया है। डायलॉग में आधुनिकता आ गई है। इनके वास्तविक कला रूप प्रतिदिन धूमिल होते जा रहे हैं। गंवरी को जब से सांस्कृतिक धरोहर के रूप में प्रस्तुत कर शहर में मंचन कर प्रोत्साहित किया जाने लगा है, तब से इस पर परदेशी संस्कृति का विलय रूप ज्यादा देखने को मिल रहा है। संस्कृति के विलय के नव रूप सामान्य आदिवासी जीवन में भी देखनें को मिल रहे हैं। पहनावा, आभूषण एवं घर की साज-सज्जा में उपयोगी शिल्प की वस्तुएं, जैसे- लकड़ी को प्लास्टिक एवं लोहे में

ढ़ाल दिया गया है। आदिवासी प्रतीकों को भी हूबहू ढाला गया है। व्यापारी लोग इनके कला रूपों के आभूषण एवं उपयोगी वस्तुएं बाजार में प्रयोग कर आदिवासी शिल्प के नाम से धड़ल्ले से व्यापार कर रहे हैं। इनके वास्तविक कला रूप के हकदार को उनका हिस्सा नहीं मिलता है। व्यापारिक दृष्टि से उत्पादित शिल्प वास्तविक आदिवासी शिल्प की आत्मा से काफी दूर हैं। यह मात्र आदिवासी एवं विदेशी कला का विलय रूप हैं। जैसे आभूषण, पारंपरिक वस्त्र, आदिवासी चित्र, सुपड़ा, टोकरी, परात ऐसे कई उपयोगी शिल्पों में देखने को मिल रहे हैं।

आधुनिक काल के शुरुआती दौर से आदिवासी संस्कृति शुद्ध पारंपरिक निजता के साथ चलती रही। लेकिन समय के साथ यह संस्कृति पश्चिम के प्रभाव में आने लगी और अब हालत यह है कि इसके मूल स्वरूप को पहचानना मुश्किल होता जा रहा है, क्योंकि इस संस्कृति पर प्रतिदिन पाश्चात्य संस्कृति रूपी कलेवर(परत) चढ़ता जा रही है। इस कलेवर रूपी सांस्कृतिक धरोहर को हम आजकल बड़े-बड़े प्रतिष्ठानों में देख सकते हैं। आदिवासी में पाश्चात्य कला एवं संस्कृति के संसर्ग से उत्पन्न नव विलय युक्त आदिवासी संस्कृति को आज के दौर में ट्राइबल फ्यूजन के नाम से पसंद किया जा रहा है। यह सब आधुनिकता एवं वैश्वीकरण के दौर में होना स्वाभाविक है। आज हर कोई व्यक्ति अपनी उच्चता का स्तम्भ गाड़कर अलग-अलग सांस्कृतिक मूल्य को स्थापित करना चाहता है। ऐसे दौर में देशी आदिवासी संस्कृति का सहारा लेकर व्यक्ति पाश्चात्य के मिश्रण के फ्यूजन को उत्पन्न कर प्रतिष्ठा पाने को लालायित है। इस नए पाश्चात्य विलय से मूल सांस्कृतिक धरोहर को निश्चय ही नुकसान पहुंचा है। आज हालत यह है कि कई आदिवासी सांस्कृतिक मूल्यों को पहचानना मुश्किल हो गया है।

हमें प्राचीन आदिवासी संस्कृति से मोह है, हम खोना नहीं चाहते, किन्तु यह भी एक चिंतन का विषय है कि मानव भावी परिवर्तन को जल्दी स्वीकार नही करता है। क्योंकि पूर्वाग्रह के स्थापित प्रतिमानों से हमें सांस्कृतिक मूल्यों के ह्रास होने का ड़र बना रहता है। लेकिन यह एक मानवीय प्रवृत्ति है कि वह अपने द्वारा निष्पादित कार्य में कुछ न कुछ नवाचार की जिज्ञासा रखता है। इस क्रम में पूर्व के स्थापित सांस्कृतिक मूल्यों को दांव पर लगाकर वह नए सांस्कृतिक मूल्यों को जन्म देता है। इसलिए प्रतिदिन मूल सांस्कृतिक मूल्यों का ह्रास होता रहता है। यही मानव की दोहरी प्रवृत्ति है कि वह मूल संस्कृति के ह्रास के साथ-साथ नवाचार करता है।

पाश्चात्य संस्कृति से युक्त यह नवस्वरूप न तो पूर्णत: आदिम कहा जा सकता, न ही आधुनिक। इस नए सांस्कृतिक स्वरूप को संकर फ्यूजन रूप कहा जा सकता है। इस चपेट में

आदिवासी युवा परम्परावादी कलाकार भी हैं। यह अपने पुरखों की परम्परा को तो निभा रहे हैं, लेकिन आज के संदर्भ में उनकी कला विलय युक्त हो चुकी है। एक साक्षात्कार में भोपाल के गोंड आदिवासी कलाकार वेंकट रमन सिंह श्याम कहते हैं कि मैं गोंड हूँ, मेरी कला में गोंड आदिवासी तत्व हैं, अन्यथा मैं जड़ से कट जाता। पर मेरी कला समकालीन है, आधुनिक है। मैं अपने समय का और आज का कलाकार हूँ। मेरी कलाकृतियों को महज पारंपरिक मानना उचित नहीं हैं। असल में यह तथाकथित मुख्य धारा में बने रहने की होड़ के 'फ्यूजन' रूप का परिणाम है। आज का समाज इस मिश्रित रूप को पसंद कर प्रयोग में लेने लगा है। हम अपने इर्द-गिर्द के सौंदर्यीकरण या मनोरंजन कार्य में पाश्चात्य के साथ भारतीय आदिम संस्कृति के विलय के स्वरूप को जी रहे हैं। हालांकि फ्यूजन संस्कृति में आदिम संस्कृति के बिम्ब ज्यादा प्रभावशाली होते हैं, इसलिए नए स्वरूप का आकर्षण बढ़ जाता हैं। इसलिए फ्यूजन के नव स्वरूप से संस्कृति का व्यावसायीकरण भी बहुत तीव्र गति से हो रहा है। संस्कृति विलय से निश्चित ही शुद्ध आदिम संस्कृति को पहचानना मुश्किल हो गया है। इसके लिए उचित दस्तावेजीकरण कर विलय रूप को रोकना चाहिए और आदिम संस्कृति के महत्व को प्रकाश में लाकर समकालीन दौर में प्रासंगिकता पर ध्यान दिया जाना चाहिए। वर्तमान आदिम कला पर शोध-कार्य एवं महत्वपूर्ण अवधारणा प्रस्तुत कर बिगड़ते सांस्कृतिक वैभव को कुशलतापूर्वक संग्रह करना चाहिए। इससे भारतीय आदिम सांस्कृतिक वैभव को पहचान मिलेगी। देशी एवं विदेशी संस्कृति के विलय से उपजी नव संक्रमित संस्कृति के यथोचित मूल्य की पहचान करनी चाहिए। आज का, खासकर युवा वर्ग आधुनिकता के वशीकरण में आदिम संस्कृति के मूल्यों को भूल चुका है। इसकी पहचान के लिए शैक्षिक आयोजन, संगोष्ठियाँ कर इसके महत्व पर प्रकाश डालना चाहिए। अगर इस प्रकार के विषय पर मूल्यांकन नहीं किया गया तो एक दिन हम आदिवासी संस्कृति के वास्तविक मूल्यों को देखने को तरस जाएंगे। आदिवासी मूल सांस्कृतिक मूल्यों को खासकर दृश्य एवं प्रदर्शकारी कला क्षेत्र में संरक्षण कार्य करते हुए विश्वपटल पर आदिवासी कला एवं संस्कृति की पहचान स्थापित करने की अवधारणा बनाने की आवश्यकता है।

*****

'यतदग्रे विषमिव परिणामेऽमृतोपमम्।
तत्सुखं सात्विकं प्रोक्तामात्वबुद्धि प्रसादजम्।।'
श्रीमद्भगवद्गीता (अध्याय 18,श्लोक 37)

अर्थात्- ज्ञान, वैराग्य, ध्यान, समाधि के अभ्यास द्वारा मिलने वाला सात्विक सुख श्रमसाध्य होता है। अत: यह पहले विष जैसा प्रतीत होता है परन्तु परिणाम में अमृत के तुल्य है। आत्मनिष्ठ बुद्धि की निर्मलता और प्रसन्नता से यह सुख उत्पन्न होता है।

*****

गोवा राज्य में हिन्दी का प्रयोग, प्रशंसनीय कार्यान्वयन, प्रगतिगत प्रचार-प्रसार

डॉ. शंभू बा. प्रभुदेसाई
सेवानिवृत महाप्रबंधक (राजभाषा)
गोवा शिपयार्ड लिमिटेड, गोवा

गोवा विमोचन यानी 1961 से पहले भी गोवा प्रदेश में हिंदी का प्रचार-प्रसार गुप्त रूप से चल रहा था। सन् 1940 में गोवा के कुछ आजादी के दीवानों ने गोवा के सीमांत भागों में जाकर हिंदी भाषा की जानकारी प्राप्त की, जिसके पीछे महात्मा गाँधी जी की वह आवाज थी "हिंदी या हिंदुस्तानी ही एक ऐसी भाषा है जो इस देश की राष्ट्रभाषा बन सकती है। "गोवा मुक्ति (1961) के पश्चात् गोवा राज्य में हिंदी पढ़ने-पढ़ाने की व्यवस्था स्कूल, महाविद्यालय, विश्वविद्यालय, स्वायत्त संस्थाएँ प्रारंभ की गई। इससे पूर्व एसएससी उत्तीर्ण करने नजदीक के प्रांत कोल्हापुर या पूना जाना पडता था और वहाँ जाने के लिए पासपोर्ट का होना आवश्यक था। पाँचवीं कक्षा से एस.एस.सी. तक माध्यमिक शालाएँ भी शुरु की गई। त्रिभाषा सूत्र के अनुसार द्वितीय भाषा के रूप में हिंदी भाषा का पढ़ना शुरु हुआ और हिंदी 'ऐच्छिक' भाषा बन गई। सन् 1975 में गोवा राज्य के लिए स्वतंत्र गोवा एसएससी बोर्ड की स्थापना हुई और गोवा बोर्ड ने ऐच्छिक हिंदी को अनिवार्य द्वितीय भाषा के रूप में स्थान दिया और तब से हिंदी भाषा का असली प्रचार गोवा राज्य में प्रारंभ हुआ और भाषा की हिंदी प्रचार संस्थाओं का उद्गम भी हुआ।

गोमंतक राष्ट्रभाषा विद्यापीठ: गोमंतक राष्ट्रभाषा विद्यापीठ 1939 से मडगाँव में, राष्ट्रभाषा प्रचार समिति, वर्धा और महाराष्ट्र सभा, पुणे की कक्षाओं का संचालन कर रहा है। राष्ट्रभाषा प्रचार समिति, वर्धा की ओर से हिंदी प्रचार का सूत्रपात गोवा में पराधीन रहने के समय से ही हुआ। सन् 1951-60 में पुर्तगाली शासन ने राष्ट्रभाषा के प्रचार पर प्रतिबन्ध लगा दिया। फिर दिसंबर, 1961 में गोवा पुर्तगाली दासता से मुक्त होते ही हिंदी प्रेमियों ने हिंदी प्रचार का कार्य प्रारंभ किया और नाट्य संस्था के द्वारा उत्साहप्रद प्रगति की। पूरे गोवा में इसके 40 प्रचार परीक्षा केंद्र हैं। हर वर्ष सितंबर एवं फरवरी माह में परीक्षाओं का संचालन किया जाता है। बड़ी तादाद में प्रशिक्षणार्थी बैठते हैं। शिक्षक-प्रशिक्षणार्थी प्रवीण, पंडित, साहित्य विशारद जैसी हिन्दी उपाधि प्राप्त कर रहे हैं। विद्यापीठ द्वारा गोमांचल नामक त्रैमासिक हिंदी पत्रिका प्रकाशन केंद्रीय हिंदी निदेशालय, मानव संसाधन विकास मंत्रालय, भारत सरकार की आर्थिक सहायता से किया जा

रहा है। मडगाँव में विद्यापीठ का पुस्तकालय भी है। पुस्तकालय में शैक्षिक पाठ्य पुस्तकें संदर्भ ग्रंथ उपलब्ध हैं। गोवा में अपने ढंग का शिविर, एकांकी स्पर्धा, कहानी लेखन स्पर्धा, संगोष्ठी आदि कार्यक्रम किए जाते हैं। गंगाशरण सिंह पुरस्कार से सम्मानित स्व. मोहनदास सुर्लकर, स्व माधव पंडित, श्री. विनायक नार्वेकर, श्री अनिल पै एवं अन्य सक्रिय सदस्यों में अध्यक्षा कृष्णी वालके, श्रीमती ज्योति कुलकर्णी, सुश्री किरण घोपकर आदि का विद्यापीठ की आज तक की गतिविधियों का लगातार आयोजन करने में सराहनीय योगदान रहा है।

राष्ट्रीय एकता तथा स्वतंत्र भावना के संदेश को देश की साधारण जनता तक पहुँचाने, जन-हृदय में देशभक्ति की चेतना उद्धृत करने के पवित्र संकल्प से राष्ट्रपिता महात्मा गाँधी जी ने दक्षिण के आंध्र प्रदेश, तमिलनाडु, कर्नाटक और केरल राज्य को एक इकाई मानकर यहाँ के लोगों को हिंदी सिखाने का कार्य आरंभ किया। "यह छोटा-सा बीज मद्रास नगर तथा दक्षिण के चारों प्रांतों के देशप्रेमी लोगों के स्नेह-जल से सिंचित होकर क्रमशः अंकुरित, पल्लवित तथा परिवर्धित हुआ और शाखाओं तथा उप शाखाओं से युक्त एक महान वृक्ष बन गया। महात्मा गांधी कहते हैं कि, यह आप पर निर्भर है कि मद्रास तथा अन्य स्थानों में हिंदी सीखने की जो सुविधाएँ प्राप्त हैं, उनका लाभ उठायें। जब तक आप हिंदी नहीं सीखेंगे, तब तक आप शेष भारत से अपने को बिल्कुल अलग रखेंगे।" सन् 1964 में दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा भारत की संसद के द्वारा राष्ट्रीय महत्व की संस्था घोषित हुई, जिससे इसे विश्वविद्यालय स्तर के पाठ्यक्रमों की शिक्षा देने और डिग्रियाँ प्रदान करने का अधिकार मिला। सभा ने अब तक अपने जीवन काल की तीन जयंतियाँ मनायीं। रजत जयंती 1949, स्वर्ण जयंती 1971 सन् 1993 में सभा का अमृतोत्सव बड़े पैमाने पर मनाया गया।

यह सभा विगत 80 वर्षों से, पहले 'हिंदी प्रचारक' तथा बाद में 'हिंदी प्रचार समाचार' नाम से अपना एक मुख-पत्र प्रकाशित कर रही है जिसमें सभा तथा दक्षिण के हिंदी प्रचार आंदोलन की गतिविधियों का परिचय मिलता है। इसके अलावा यह सभा 'दक्षिण भारत' नामक एक त्रैमासिक पत्रिका का प्रकाशन भी विगत 45 वर्षों से कर रही है। इसमें साहित्यिक रचनाएँ, विशेष रूप से दक्षिण के हिंदी लेखकों की रचनाएं प्रकाशित की जाती हैं।

दक्षिण भारत हिंदी प्रचार सभा मद्रास की एक शाखा पणजी शहर में कार्य कर रही है। यह हिंदी प्रचार-प्रसार परीक्षाओं का आयोजन कर रही है। गोवा में डिग्री स्तर पर एक हिंदी प्रशिक्षण महाविद्यालय शुरु करने की योजना पर यह संस्था विचार कर रही है। हिंदी टंकण प्रशिक्षण तथा अनुवाद प्रशिक्षण पाठ्यक्रमों का संचालन करने के बारे में भी संस्था सोच रही है।

मुम्बई हिंदी विद्यापीठ की स्थापना 12 अक्तूबर, 1938 को मुंबई महानगर के कुछ उत्साही प्रचारकों द्वारा राष्ट्रीय एकता के कार्य में सहयोग देने हेतु की गई। 1963 में विद्यापीठ का रजत जयंती महोत्सव स्थानीय शिवाजी पार्क में बड़ी धूमधाम से संपन्न हुआ। हिंदी प्रचार कार्य में इन दिनों बहुत प्रगति हुई है। जिला, तालुका तथा नगरों में विद्यापीठ द्वारा प्रमुखों की नियुक्ति प्रतिवर्ष की जाती है तथा ये प्रमुख अपने-अपने विभाग में नए-नए केंद्रों की स्थापना कर हिंदी प्रचार कार्य को आगे बढ़ा रहे हैं।

मुंबई हिंदी विद्यापीठ का कार्य भी गोवा में 1970 से शुरु हुआ। यह अखिल भारतीय हिंदी प्रचार संस्था है। मुंबई हिंदी विद्यापीठ की गोवा राज्य शाखा पेडणे में है। साहित्य सुधारक और साहित्य रत्नाकर विद्यापीठ की बी.ए., एम.ए. समकक्ष परीक्षा है। हर साल इन परीक्षाओं में गोवा के विद्यार्थी, शिक्षक बडी संख्या में बैठते हैं। प्रत्येक वर्ष विद्यापीठ द्वारा गोवा में छात्रों के लिए राज्य स्तरीय हिंदी निबंध प्रतियोगिता, वक्तृत्व प्रतियोगिता, हिंदी एकांकी स्पर्धा, राज्य स्तरीय सम्मेलन, अखिल भारतीय सम्मेलन आयोजित किए जाते हैं। विद्यापीठ के साठ से सत्तर केंद्र गोवा में हैं।

सन् 1975-76 में शिक्षा के गुणात्मक विकास तथा शिक्षक प्रशिक्षण संशोधन हेतु गोवा सरकार ने भारत सरकार के निर्देशानुसार गोवा राज्य शिक्षा संस्थान की स्थापना की। यहाँ स्कूलों में पढाई जाने वाली भारतीय भाषाओं के शिक्षकों को मार्गदर्शन एवं प्रशिक्षण संपन्न होता है। अध्ययन सह साहित्य निर्माण का कार्य भी चलता है। केंद्रीय हिंदी संस्थान, आगरा तथा हैदराबाद की तरफ से शिक्षक प्रशिक्षण कार्यक्रम यहाँ आयोजित किए जाते है। माध्यमिक स्तर पर लगभग 500 शिक्षकों और उच्च माध्यमिक स्तर पर 100 शिक्षकों ने इस प्रशिक्षण का लाभ उठाया है। उक्त संस्थान स्वयं स्कूलों का निरीक्षण करता है और विद्यार्थियों तथा हिंदी शिक्षकों का मार्गदर्शन करता है। साथ ही हिंदी विकास के लिए कार्यक्रम बनाता है।

बिहार के एक हिंदी प्रेमी स्वर्गीय श्री देवदत्त विद्यार्थी ने काशी नागरी प्रचारिणी सभा के कार्यकर्ताओं के सक्रिय सहयोग से आगरा में एक हिंदी शिक्षण विद्यालय की स्थापना की। जिसे वर्ष 1961 में भारत सरकार ने अखिल भारतीय स्वरूप देकर विभिन्न भाषा क्षेत्रों में हिंदी अध्यापन का कार्य करने वाले अध्यापकों और प्रचारकों को हिंदी भाषा के वैज्ञानिक और कुशल प्रशिक्षण हेतु केंद्रीय हिंदी शिक्षण मंडल नाम रखा जिसे बाद में केंद्रीय हिंदी संस्थान के नाम से जाना जाने लगा। इसके प्रथम अध्यक्ष दक्षिण भारत हिंदी प्रचार सभा के प्रमुख संस्थापक कार्यकर्ता और भारतीय संविधान सभा के सदस्य स्वर्गीय मोटूरि सत्यनारायण जी थे। प्रारंभ में संस्थान का उद्देश्य केवल हिंदीतर क्षेत्रों

में हिंदी पढ़ाने वाले शिक्षकों को हिंदी शिक्षण का व्यवस्थित प्रशिक्षण देना ही था। अब इसका क्षेत्र बहुत बढ़ गया है। मुख्यालय आगरा के अतिरिक्त मैसूर, हैदराबाद, दिल्ली, गुवाहाटी, शिलांग, दीमापुर, भुवनेश्वर और अहमदाबाद में इसके केंद्र हैं। शीघ्र ही कोलकाता में संस्थान का नया केंद्र खुलने वाला है। पूर्वांचल में हिंदी के तीन केंद्र गुवाहाटी, शिलांग, दीमापुर हैं। पूर्वांचल के राज्यों में हिंदी एक सशक्त सम्पर्क भाषा के रूप में प्रयुक्त होती है। गुवाहाटी हो या आइजोल, कोहिमा हो या इंफाल, शिलांग हो या तिनसुखिया हो या ईटानगर इन सारे क्षेत्रों में अगर कोई एक भाषा है जो समान रूप से समझी जाती है तो वह हिंदी है।

गोवा विश्वविद्यालय के अंतर्गत हिंदी भाषा के प्रचार-प्रसार हेतु स्वतंत्र हिंदी विभाग 1985 से कार्यरत है। जहाँ एम.ए., एम.फिल. तथा पी.एच.डी. की कक्षाएँ चलती हैं। तुलनात्मक साहित्य, काव्य उपन्यास, अनुवाद तथा अनुसंधान कार्य पर हिंदी विभाग जोर दे रहा है। यहाँ स्नातकोत्तर स्तर पर अनुवाद, प्रयोजनमूलक हिंदी, कार्यात्मक हिंदी आदि विषय वैकल्पिक तौर पर लेने का प्रावधान है। हर वर्ष इन उपाधियों से अनेक विद्यार्थी उत्तीर्ण होते है। वर्तमान मे हिन्दी प्रोफेसर डा वृषाली मान्देकर हिन्दी विभाग प्रमुख है। विश्वविद्यालय से संबद्ध सभी गैर व्यावसायिक महाविद्यालयों तथा मान्यताप्राप्त संस्थाओं में बी.ए. स्तर तक हिंदी पढ़ाई जाती है जो अपने आप में सक्रिय योगदान है।

गोवा मे सक्रिय हिंदी प्रचारक संस्थाओं का बहुत बड़ा हाथ आज हिंदी को गौरवपूर्ण स्थान प्राप्त कराने में मात्र हिंदी के प्रचार-प्रसार में रहा है। राष्ट्रीय आंदोलन के प्रादुर्भाव के दिनों में राजभाषा हिंदी के प्रचार को लक्ष्य करके कई संस्थाओं ने जन्म लिया। देश के विभिन्न प्रांतों में हिंदी के अनुकूल वातावरण सृजित करने में तथा लोगों को हिंदी शिक्षण की सुविधाएँ देने में नि:स्वार्थ भाव से संस्थान प्रयत्नशील रहा है। इनमें से अधिकतर आज भी निरंतर सेवा में संलग्न है। इन स्वैच्छिक संस्थाओं की सेवाओं का ज्ञान प्राप्त करना हर हिंदी प्रेमी का मौलिक धर्म है। "कार्यालय हिंदी, प्रशासनिक हिंदी या राजभाषा हिंदी के उपरोक्त उदाहरण इस दृष्टि से लिए गए है जिससे राजभाषा हिंदी की विषय प्रकृति का स्पष्ट बोध हो सके।

क्षेत्रीय पासपोर्ट कार्यालय, पणजी, गोवा को विदेश मंत्रालय, नई दिल्ली ने 11/02/1988 को गोवा राज्य गृह विभाग से अपने अधिकार में ले लिया और इसने होटल फिडाल्गो, पणजी, गोवा में काम करना शुरु कर दिया। वर्ष 1991 में, कार्यालय को एक अन्य किराए के भवन 'गोमंत मराठा समाज' में स्थानांतरित कर दिया गया। अक्टूबर 2002 में, क्षेत्रीय पासपोर्ट कार्यालय, पणजी, गोवा को पैटो प्लाजा, पणजी-

गोवा में सरकारी (एमईए) स्वामित्व वाली इमारत 'पासपोर्ट भवन' में स्थानांतरित कर दिया गया, जहां यह तब से काम कर रहा है। इमारत का स्थान मुख्य पणजी बस स्टैंड के पास है। यह कार्यालय गोवा राज्य के पासपोर्ट जारी करने वाले कार्यालय के रूप में कार्य करता है जिसमें 17 लाख की आबादी के साथ दो जिले - उत्तरी गोवा और दक्षिण गोवा शामिल हैं। पासपोर्ट सेवा परियोजना के तहत, पासपोर्ट कार्यालय में 09/03/2012 को एक पासपोर्ट सेवा केंद्र (पीएसके) शुरु हुआ। वर्तमान में हम लगभग 300 नियुक्तियां जारी कर रहे हैं जिनमें पीएसके और पीओपीएसके के लिए सामान्य नियुक्तियां, पीएसके के लिए तत्काल नियुक्तियां और पीएसके और पीओपीएसके के लिए दैनिक आधार पर पीसीसी नियुक्तियां शामिल हैं। सामान्य पासपोर्ट आवेदनों के साथ-साथ इस कार्यालय को भारतीय पासपोर्ट सरेंडर करने के लिए 20-25 आवेदन प्राप्त होते हैं। 19/04/2018 को मडगांव में दक्षिण गोवा कलेक्टरेट कार्यालय में एक पोस्ट ऑफिस पासपोर्ट सेवा केंद्र खोला गया।

गोवा राज्य में कुल 190 सरकारी कार्यालयों, उपक्रमों, निगमों और बैंक आदि शामिल है। राजधानी पणजी में जहाँ एक ओर (एनआईओ) राष्ट्रीय समुद्र विज्ञान संस्थान हैं, जहाँ से अंटार्कटिका तक शोध-यात्री दल जाता है। समुद्री हवाओं और तापमान परिवर्तन का लेखा-जोखा होता है। वहीं वास्को शहर में अंतरराष्ट्रीय स्तर पर पोत निर्माण का कार्य गोवा शिपयार्ड लिमिटेड में होता है। केंद्रीय सरकार और राज्य सरकार के कार्यालयों और उपक्रमों के अतिरिक्त विभिन्न निगम व बैंक आदि संस्थान राजभाषा कार्य में सक्रिय हैं। विश्वविद्यालय स्तर पर हिंदी में शिक्षण और शोध संस्थान के कार्यक्रम जारी है। विभिन्न साहित्यिक, सास्कृतिक उपक्रम व संस्थान, गोमंतक राष्ट्रभाषा विधायिका, इंस्टीट्यूट मिनेजिस, ब्रागांजा, बम्बई हिंदी विद्यापीठ, गोवा हिन्दी अकादमी आदि भी सक्रिय रूप से हिंदी प्रचार-प्रसार और संगोष्ठी विमर्श के कार्यक्रम जारी रखते हैं।

गोवा राज्य क्षेत्र में दक्षिण गोवा नगर राजभाषा कार्यान्वयन समिति, नगर राजभाषा कार्यान्वयन समिति, उत्तर गोवा, नगर राजभाषा कार्यान्वयन समिति, मडगांव, नगर राजभाषा कार्यान्वयन समिति बैंक पणजी उप निदेशक (कार्यान्वयन) गृह मंत्रालय राजभाषा विभाग के नियंत्रणाधीन कार्यरत है। गोवा शिपयार्ड लिमिटेड के संयोजन में वर्ष 1996 में गठित नगर राजभाषा कार्यान्वयन समिति, दक्षिण गोवा 2017 तक तत्कालीन अध्यक्ष एवं प्रबंध निदेशक, गोवा शिपयार्ड लिमिटेड की अध्यक्षता में अपनी दायित्वों का निवेदन कर रही थी। प्रस्तुत समिति में सरकारी उपक्रम/निगम, सार्वजनिक क्षेत्र के बैंक और केंद्रीय सरकारी कार्यालय मिलाकर कुल 54 सदस्य कार्यालय हैं।

गोवा राज्य में स्थित केंद्रीय सरकार के कार्यालयों, सरकारी उपक्रमों और भारतीय रिजर्व बैंक, ग्रामीण विकास बैंक, भारतीय औद्योगिक विकास बैंक सहित सभी राष्ट्रीयकृत बैंकों, कंपनियों और निगमों, उद्यमों में राजभाषा, हिंदी का कार्यान्वयन गंभीरता से किया जा रहा है। इनके प्रभारी अधिकारी जरूरत के मुताबिक सख्ती बरतने लगे हैं। यदि सभी संबंधित मिल-जुल कर ईमानदारी से प्रयास करेंगे तो राजभाषा हिंदी के प्रयोग में कुछ भी आड़े न आएगा।

गोवा जैसे छोटे सुनहरे प्रदेश में मराठी, कोंकणी और हिंदी भाषाओं का विकास एक दूसरे के सहयोग तथा सद्भावना से ही संभव है। हर वर्ष यहाँ हिंदी फिल्म गीत गायन, हिंदी एकांकी, हिंदी निबंध, हिंदी नाटक, हिंदी वक्तृत्व, हिंदी प्रश्न मंजूषा जैसे सांस्कृतिक कार्यक्रम आयोजित किए जाते हैं।

कुछ दिन पूर्व अंतरराष्ट्रीय फिल्म महोत्सव भी संपन्न हुआ। गोवा के हर घर में चाहे वे झोंपड़ी हो या फ्लैट या फिर बंगला हर एक के जबान पर हिंदी होती है। यहाँ के बाजारों, दुकानों, रेस्टोरेंटो तथा समुद्री तट पर भी अब हिंदी भाषा का उपयोग अंग्रेजी, मराठी या कोंकणी भाषा से अधिक हो रहा है। यह मानना होगा कि राष्ट्रभाषा राजभाषा के रूप में गोवा में हिंदी स्वीकृत है। हिंदी का यह प्रचार-प्रसार निश्चित रूप से सराहनीय एवं आनंददायी है।

नराकास द.गोवा में अपनी स्थापना काल से ही सदस्य कार्यालयों के सहयोग से राजभाषा नीति की मूल भावना के अनुरूप, प्रेरणा एवं प्रोत्साहन के माध्यम से राजभाषा हिंदी के प्रति सौहार्दपूर्ण वातावरण सृजित करने तथा राजभाषा कार्यान्वयन में स्टाफ सदस्यों की जागरूकता को विकसित करने के लिए समय-समय पर प्रयोजनमूलक हिंदी कार्यशालाएँ, पुनश्चर्या पाठ्यक्रम, अनुकूलन, राज्य स्तरीय प्रतियोगिताएँ टंकण/आशुलिपि कक्षाएँ, राजभाषा सम्मेलन आदि कार्यक्रम आयोजित किए गये। नराकास, दक्षिण गोवा ने अपनी उपलब्धियों के लिए आरंभ से ही गृह मंत्रालय के क्षेत्रीय राजभाषा पुरस्कार प्राप्त कर पुरस्कारों की गौरवशाली परंपरा स्थापित की है। नगर राजभाषा कार्यान्वयन समिति, दक्षिण गोवा स्थापना काल यानी 1996 से 2016 ऊनके सेवानिवृत्त होने तक डॉ. शंभू बाबा प्रभुदेसाई, उप प्रबंधक (राजभाषा) गोवा शिपयार्ड लिमिटेड समिति के सदस्य सचिव रहे हैं एवं उन्हें वर्ष 1996 से केंद्रीय हिंदी प्रशिक्षण संस्थान द्वारा दक्षिण गोवा के सर्वकार्यभारी अधिकारी (आशुलिपि/टंकक), हिंदी शिक्षण योजना के रूप में नियुक्त किया गया था। दक्षिण गोवा में हिंदी शिक्षण योजना की ओर से हिंदी आशुलिपि का प्रशिक्षण दिलाने के लिए कोई हिंदी आशुलिपि अनुदेशक नियुक्त नहीं है, तथापि हिंदी आशुलिपि प्रशिक्षण के लिए शेष

कर्मचारियों को प्रशिक्षण दिलाने हेतु विभागीय तौर पर व्यवस्था की गई है।

गोवा शिपयार्ड लिमिटेड, जहाँ एक ओर राजभाषा हिंदी के प्रचार-प्रसार एवं प्रभावी कार्यान्वयन हेतु कार्य कर अपने सवैधानिक कर्तव्य का निर्वाह कर रहा है, वहीं दूसरी ओर हिंदी भाषा तथा हिंदी साहित्य के प्रति अपने अधिकारियों/कर्मचारियों की अभिरूचि में अभिवृद्धि के लिए लगातार प्रयासरत है। अपने कार्यालय में हिंदी का माहौल तैयार करने के लिए, अपने-अपने दायित्वों से संबंधित विषयों पर हिंदी में मौलिक पुस्तकें पढ़ने तथा अन्य विषयों से संबंधित शब्द भंडार को समृद्ध करने के लिए गोवा शिपयार्ड लिमिटेड का हिंदी पुस्तकालय समृद्ध है। इन पुस्तकों में सामाजिक, सांस्कृतिक, ऐतिहासिक, साहित्यिक तथा चरित्रात्मक पुस्तकों का समावेश है जो कि जीवन के हर पहलुओं को छूती हैं।

गोवा शिपयार्ड लिमिटेड में राष्ट्रभाषा तथा राजभाषा हिंदी का प्रचार-प्रसार तथा इसके विकास हेतु चलायी जाने वाली गतिविधियाँ किसी अनुष्ठान से कम नहीं आंकी जा सकतीं, क्योंकि इसमें हिंदी अनुभाग के अथक प्रयास, सक्रिय सहयोग तथा प्रोत्साहन देने वाले वरिष्ठतम अधिकारियों से लेकर कनिष्ठतम कर्मचारियों की हिंदी के प्रति निष्ठा और प्रतिबद्धता का अमूल्य योगदान रहा है। गोवा शिपयार्ड लिमिटेड परिवार की हिंदी के प्रति अगाध निष्ठा एवं प्रतिबद्धता का ही परिणाम है कि गृह मंत्रालय, भारत सरकार तथा अनेक हिंदी भाषा संगठनों ने गोवा शिपयार्ड लिमिटेड को समय-समय पर निम्न सर्वोच्च राजभाषा पुरस्कारों से नवाजा गया है। गोवा शिपयार्ड लिमिटेड ने केंद्रीय सरकार के सार्वजनिक क्षेत्र के उपक्रम के तहत राजभाषा में श्रेष्ठ कार्य निष्पादन के लिए गोवा शिपयार्ड लिमिटेड ने वर्ष 2007-08 का प्रथम स्थान इंदिरा गांधी राजभाषा पुरस्कार प्राप्त किया।

अब तक गोवा शिपयार्ड लिमिटेड ने यह महत्वपूर्ण उपलब्धि सातवीं बार प्राप्त की है। वर्ष 1997-98, 1999-2000, 2004-05, 2007-08, 2008-09, 2010-11 और 2012-13 में गृह मंत्रालय के इस गौरवशाली पुरस्कार गोवा शिपयार्ड लिमिटेड को प्रदान किया गया है। केन्द्रीय सचिवालय हिन्दी परिषद नई दिल्ली की 44वीं हिंदी टंकण अखिल भारतीय प्रतियोगिता में प्रथम तीन पुरस्कार हमारे कर्मचारियों ने प्राप्त किया।

गृह पत्रिका हिंदी विशेषांक के लिए इटली में राजभाषा गृह पत्रिका साथ ही राजभाषा शील्ड गोवा शिपयार्ड को प्रदान की गई है। गोवा शिपयार्ड लिमिटेड ने वर्ष 2006-07, 2007-08, 2008-09 और 2009-10 के लिए नराकास दक्षिण गोवा द्वारा प्रदत्त केंद्र सरकार के उपक्रमों

के अंतर्गत प्रथम स्थान स्वरूप 'राजभाषा रोलिंग शील्ड' प्राप्त की है। गोवा शिपयार्ड लिमिटेड नराकास दक्षिण गोवा के संयोजक के रूप में जिम्मेदारी का सफलतापूर्वक निर्वाह करते हुए नराकास, दक्षिण गोवा को राष्ट्रीय स्तर पर पहचान दिलाई है, नराकास, दक्षिण गोवा को क्षेत्रीय स्तर पर राजभाषा नीति के उत्कृष्ट कार्य हेतु वर्ष 2000-01, 2001-02, 2010-11, 2011-12 एवं 2013-14 के दौरान 'ग' क्षेत्र में राजभाषा हिंदी के प्रगामी प्रयोग की दिशा में सर्वोत्कृष्ठ कार्य करने वाली समिति के रूप में भारत सरकार, गृह मंत्रालय राजभाषा विभाग द्वारा क्रमशः तृतीय एवं द्वितीय पुरस्कार प्रदान किए गए।

उत्तर गोवा नगर राजभाषा कार्यान्वयन समिति का गठन वर्ष 1986 में हुआ एवं अध्यक्षता का दायित्व सीमाशुल्क एवं उत्पाद आयुक्त कार्यालय पणजी को सौंपा गया। तत्पश्चात यह कार्यभार राष्ट्रीय समुद्र विज्ञान संस्थान ने संभाला।

गोवा राजभाषा कार्यान्वयन समिति के वर्तमान अध्यक्ष के रूप में मुख्य आय कर आयुक्त पणजी ने गृह मंत्रालय, राजभाषा विभाग के दिनांक 22.08.2006 अ.शा.पत्र संख्या 12024/6/2005 –रा.भा (का-2) द्वारा राष्ट्रीय समुद्र विज्ञान संस्थान से 27/3/2007 को कार्यभार संभाला। गोवा में दोबारा वर्तमान में यह कार्यभार आयकर आयुक्त निदेशालय के पास है। सहायक निदेशक समिति के सदस्य सचिव है। समिति को कई बार क्षेत्रीय पुरस्कारों से पुरस्कृत किया गया है।

देवनागरी लिपि केवल हिन्दी की ही लिपि नहीं है। यह लिपि भारत के संविधान की आठवीं अनुसूची में सम्मिलित संस्कृत, मराठी, डोगरी, मैथिली, बोडो तथा नेपाली की भी अधिकृत लिपि है। कोंकणी और सिंधी तथा संथाली भाषाएं भी इसे अपना रही हैं। उर्दू के लिए भी इसका प्रयोग बढ रहा है। प्राचीनकाल में प्रचलित ध्वनि मूलक लिपि के दो भेद किए गए हैं, अक्षरात्मक लिपि जिसे देवनागरी लिपि कहा गया है और वर्णात्मक लिपि जिसे रोमन लिपि कहा गया है।

किसी भी शब्द या अक्षर का सही उच्चारण जानने पर देवनागरी लिखने के नियमों से परिचित कोई भी व्यक्ति उसे शुद्ध/सही रूप में लिख सकता है। सरल शब्दों में कहें तो देवनागरी लिपि में वही लिखा जाता है जो बोला जाता है और जो बोला जाता है वही लिखा जाता है। नागरी लिपि में एक ध्वनि के लिए एक ही लिपि चिन्ह है। यह विशेषता विश्व की अनेक लिपियों, जैसे रोमन तथा फारसी आदि में नहीं है। देवनागरी लिपि भारत के एक विशाल भाषा क्षेत्र की लिपि है। देवनागरी लिपि को संसार की एकमात्र वैज्ञानिक लिपि या पूर्णतः वैज्ञानिक लिपि कहा जाता है। देवनागरी लिपि से ही

राजस्थानी, गुजराती, मराठी, उड़िया, बंगला, मैथिली और असमिया विकसित हुई है। देवनागरी लिपि का महत्व अपने ध्वन्यात्मक और वैज्ञानिक गुणों के आधार पर नागरी लिपि विश्व की एक सर्वोत्तम लिपि है जो कुछ परिवर्तनों, परिवर्धनों के साथ एक विश्व लिपि बनने की क्षमता रखती है।

आज हिन्दी भाषा और साहित्य ही नहीं अपितु विज्ञान, शिक्षा, चिकित्सा, अभियांत्रिकी, विधि, कृषि, उद्योग, प्रौद्योगिकी क्षेत्रों में हिन्दी का प्रयोग हो रहा है। सभी भारतीयों में एकात्मकता निर्माण करने में हिन्दी की भूमिका महत्वपूर्ण है। अत: हिन्दी का भविष्य उज्ज्वल ही नहीं, स्वर्णिम भी है।

हिन्दी भारतीय अस्मिता की द्योतक है। विश्व में हमारी पहचान है, हमारी समृद्ध संस्कृति का अभिन्न अंग हिंदी भारत देश की राजभाषा, राज्यभाषा, मातृभाषा, संपर्क भाषा, राष्ट्रभाषा से आगे बढकर विश्व भाषा बनने की ओर अग्रसर है। हिन्दी संयुक्त राष्ट्र संघ की आधिकारिक भाषा बने तो भारत देश के लिए यह बड़े गर्व की बात होगी।

दैनंदिन का सरकारी कामकाज करने के लिए अनुकूल और अनुकरणीय वातावरण बनाने में हिन्दी के प्रति हमारे अधिकारियों की हीन भावना को बदलना पड़ेगा। विदेशों में अपने दूतावासों तक यह संदेश पहुँच जाएगा, तभी हिन्दी को संयुक्त राष्ट्र संघ की आधिकारिक भाषा के रूप में विश्वव्यापी बनाने का सही गौरव मिलेगा तथा देवनागरी लिपि राष्ट्रलिपि होने के सर्वथा उपयुक्त है, कंप्यूटर क्षेत्र में हिन्दी का प्रयोग सहज होने से प्रयोग में निरंतर वृद्धि हो रही है। आज हिन्दी इंटरनेट की भाषा बनकर विश्व प्रतिस्पर्धा हेतु तैयार खड़ी है। कंप्यूटर के माध्यम से हिन्दी को विश्व स्तर की भाषा बना सकते हैं।

राजभाषा (संशोधन) नियम, 1987 में दिनांक 09/10/1987 में आवश्यकता अनुसार संशोधन कर 'ख' क्षेत्र में शामिल अंडमान निकोबार को राज्य विधान मंडल के अनुरोध पर 'क' क्षेत्र में लाया गया दादरा नगर हवेली को 'ख' क्षेत्र में लाया गया और राजभाषा हिंदी के प्रगामी प्रयोग में एक अच्छा कदम बढ़ाया गया है। राष्ट्रीय स्तर पर यह निर्णय उत्साहवर्धक हैं।

सूचना प्रौद्योगिकी के अभूतपूर्व विकास के परिणामस्वरूप संसार में विभिन्न प्रगतिशील राष्ट्रों की आपसी दूरी कम होती जा रही है। संसार के सभी विश्वविद्यालयों एवं महाविद्यालयों में हिन्दी भाषा और साहित्य का अध्ययन अध्यापन जोर पकड़ता जा रहा है। इस क्रम में वह दिन दूर नहीं जब विश्व भाषा के रूप में हिन्दी विकसित हो जाएगी।

*****

जल-भारतीय संस्कृति के साथ बंधन

डॉ. अमित भट्टाचार्य,
प्रधान वैज्ञानिक, वैज्ञानिक एवं औद्योगिक
अनुसंधान परिषद,
भावनगर, गुजरात

आदि काल से ही भारतीय संस्कृति में जल को अति महत्वपूर्ण पंचतत्वों में से माना गया है। इसे अनेक अलग अलग नामों से भी जाना गया है, जैसे- जलं, अमृतम, वारि, नीरं, क्षीरं, पावनं, पुष्करं, मेघपुष्पं, घनरसः, तृषाहं, जीवनं, सर्वतोमुखं इत्यादि। जल के संबंध में दैवीय धारणाएं धर्म द्वारा प्रतिपादित की जाती हैं। हिंदू धर्म में जल प्रत्येक व्यक्ति को औपचारिक रूप से स्वच्छ बनाने का प्रतीक है। बौद्ध धर्म पानी की शांति और शीतलता दिखाता है। सिख धर्म में भी हिंदू धर्म के समान माना जाता है कि यह आत्मा और मन को स्वच्छ एवं शुद्ध करता है। ईसाई धर्म में यह पुनर्जन्म और पवित्रता का प्रतीक है। इस्लाम में पानी ज्ञान का प्रतीक है।

जल निकाय की हिंदू पौराणिक कथाओं में जल को भगवान/देवी के समान पूजा जाता है। गंगा, यमुना और सरस्वती नदियों को देवी के रूप में व्यक्त किया गया है। पवित्र नदी गंगा पौराणिक रूप से भगवान शिव की जटाओं से अवतरित हो रही है। यमुना का नाम यमी (कालांतर में कालिंदी), जो भगवान सूर्य एवं बादलों की देवी संजना की पुत्री हैं, के नाम पर रखा गया है। सिंधु और नर्मदा का नाम क्रमशः हिमालय और भगवान शिव की पुत्री के नाम पर रखा गया है। कावेरी को ऋषि अगस्त्य की पत्नी लोपामुद्रा के रूप में पूजा जाता था। तापी नदी को सूर्य की पुत्री के रूप में पूजा जाता है। कृष्णा नदी को कृष्णावेनी देवी/कृष्णामाई के रूप में पूजा जाता है क्योंकि यहां भगवान विष्णु का जन्म एक नदी के रूप में हुआ था। कृष्णा की सहायक नदी तुंगभद्रा को भी देवी के रूप में पूजा जाता है। ब्रह्मपुत्र नदी का पुरुष अवतार है, जिसे ब्रह्मा के पुत्र के रूप में पूजा जाता है। वास्तव में आज भी यहां एक जलस्रोत है, जिसे ब्रह्मकुंड कहा जाता है।

हिमरूपी बाबा बर्फानी श्री अमरनाथ को भगवान शिव के रूप में पूजा जाता है। विभिन्न स्थानों (जैसे गौरीकुंडा, बद्रीनाथ, बक्रेश्वर) में गर्म पानी के झरने की भी पूजा की जाती है। नैनी झील (उत्तराखंड) एक शक्तिपीठ है। स्कंद पुराण में इसे त्रिऋषि सरोवर भी कहा गया है। किंवदंती के अनुसार, ऋषि अत्रि, पुलस्त्य और पुलह ने जल की खोज में एक गड्ढा खोदा और मानसरोवर झील के पानी से भर दिया। इस सरोवर के बारे में मान्यता है कि इसमें स्नान करने से मानसरोवर में स्नान करने जितना पुण्य मिलता है। यहाँ से कुछ दूरी पर स्थित विभिन्न झीलें - भीमताल, सातताल इत्यादि महाभारत से जुड़ी हैं। अन्य महत्वपूर्ण सरोवर, कैलाश मानसरोवर को भी हिन्दू, बौद्ध, जैन तथा तिब्बत के स्थानीय

शास्त्रों में अति पवित्र माना गया है। हिन्दू विचारधारा के अनुसार यहां देवी सती के शरीर का दांया हाथ गिरा था। इसलिए यहां एक पाषाण शिला को उसका रूप मानकर पूजा जाता है। यहाँ भी देवी का शक्तिपीठ है।

गंगा नदी भारत के पांच राज्यों (उत्तराखंड, उत्तर प्रदेश, बिहार, झारखंड, पश्चिम बंगाल) से होकर बहती है और इन राज्यों की संस्कृति, परंपरा और इतिहास से निकटता से जुड़ी हुई है। विभिन्न पवित्र स्थानों (हरिद्वार, बनारस, प्रयागराज और कोलकाता) की संस्कृति और जीवन शैली गंगा नदी के महत्व के कारण हैं। गंगा आरती एवं गंगा उत्सव नदी की देवी को समर्पित है। बंगालियों के दुर्गा पूजा उत्सव में मूर्तियों की तैयारी से लेकर विसर्जन तक का कार्य गंगा नदी पर केंद्रित है। बिहार, झारखंड, उत्तर प्रदेश की छठ पूजा (सूर्य और उनकी पत्नी उषा को समर्पित) ज्यादातर गंगा पर की जाती है। इसी प्रकार कावेरी नदी का प्रभाव तमिलनाडु की संस्कृति, परंपरा और इतिहास पर भी पड़ता है। 'आदि पेरुक्कू' उत्सव (आदि का अर्थ है एक तमिल महीना, पेरुक्कू का अर्थ है मानसून) जुलाई के मध्य में जब नदी पूर्ण प्रवाह में होती है, तब मनाया जाता है। 'मुन्नीर विझावु' (तीन जल का त्योहार, बारिश, नदी और वसंत) संगम में जल का उत्सव है। बारह वर्षों में आयोजित होने वाला कुंभ मेला उत्सव, प्रयागराज (गंगा-यमुना-सरस्वती नदियों का संगम), हरिद्वार (गंगा), नासिक (गोदावरी) और उज्जैन (क्षिप्रा) में पवित्र नदियों के स्नान पर केंद्रित है। 'अरनमुला उथरत्ताथी' केरल में एक त्योहार है जिसमें पम्पा नदी पर एक सर्प नौका दौड़ शामिल है। महत्वपूर्ण त्योहारों के अलावा, बंगाल की खाड़ी (पश्चिम बंगाल में) के तट पर गंगासागर मेला सांस्कृतिक महत्व रखता है।

भारतीय साहित्य में भी जल की भूमिका को अति महत्त्व दिया गया है। प्रतीक के रूप में जल के उपयोग का स्पष्ट रूप से कोई निर्धारित नियम नहीं है। अलग-अलग बिंदुओं को समझाने के लिए लेखक अलग-अलग तरीकों से इसका इस्तेमाल करते हैं। यह 'शांति' के साथ-साथ 'गति' को दर्शाता है। कभी-कभी इसे 'उत्साह' के रूप में व्यक्त किया जाता है। जलाशय, समुद्र, झीलें विशालता की प्रतीक हैं। वेद और उपनिषद भी हमें अगली पीढ़ियों के लिए पानी को संरक्षित करने के लिए कहते हैं।

'रामायण' और 'महाभारत' में भी जल से सम्बंधित वर्णन हैं। दृष्टि बाधित अंध मुनि के पुत्र सिंधु की मृत्यु, सरयू नदी से एवं लंका तक पुल का निर्माण, ये सभी रामायण में जल से जुड़े वर्णन हैं। महाभारत देवव्रत (भीष्म) से संबंधित है जो देवी गंगा और कुरु राजा शांतनु के पुत्र हैं। तापी, नदी की देवी है, जो सूर्य और छाया की पुत्री है। इनके अलावा, विभिन्न नदियों जैसे आकाश गंगा, भागीरथी, चंद्रभागा, गोदावरी और कृष्णा का महाभारत में उल्लेख मिलता है। यक्ष की कहानी पांडवों के वनवास के दौरान एक झील पर पानी पीते हुए घटित हुई। और जब गंगापुत्र भीष्म बाणों की शैया पर थे, तब अर्जुन ने पीने के पानी की व्यवस्था की थी।

आधुनिक काल के साहित्य में भी विभिन्न विद्वानों ने जल के महत्त्व को अपने शब्दों में समझाया है। रवींद्रनाथ टैगोर ने हमारे

राष्ट्रगान में जीवन रेखा के प्रतीक रूप में नदियों का वर्णन किया है। दूसरी ओर उनकी कविता 'आमार छोटो नदी' (हमारी छोटी नदी) गाँव की तस्वीर का वर्णन करती है। कवि अल्लामा मुहम्मद इकबाल ने अपने गीत "सारे जहाँ से अच्छा" में हजारों नदियों के उल्लास का उल्लेख किया है। सुभद्रा कुमारी चौहान ने अपनी कविता' पानी और धूप' में देश से प्रेम करने का निर्देश दिया है।

प्रेमचंद (धनपत राय श्रीवास्तव) ने पीने के पानी को लेकर आम आदमी के जुल्म की कहानी 'ठाकुर का कुआं' में लिखी है। धर्मवीर भारती ने अपनी कविता 'काले मेघा पानी दे' में पानी को 'अंधविश्वास' से जोड़ा है। इसी तरह कई गीतकारों ने भी अपने गीतों में जल का उल्लेख किया है।

वैश्विक इतिहास से पता चलता है कि जो भी सभ्यता (जैसे सिंधु, बेबीलोन, मिस्र) शुरु हुई, वह नदी-केंद्रित रही है। इसी तरह, भारतीय संदर्भ में भी जनसंख्या अपने शहर का निर्माण करती है। यह जल की उपलब्धता को इंगित करती है जो मानव सभ्यता का प्रसार करती है।

हरिद्वार, वाराणसी, प्रयागराज, पटना, कोलकाता सभी शहर गंगा (हुगली) नदी के कारण अपने महत्व से शुरु हुए। इसी प्रकार अयोध्या (सरयू), आगरा (यमुना), अहमदाबाद (साबरमती), कटक (महानदी), गुवाहाटी (ब्रह्मपुत्र), लखनऊ (गोमती), नासिक (गोदावरी), तिरुचिरापल्ली (कावेरी) जैसे अन्य शहर नदियों से सम्बंधित हैं।

अधिकांश पुराने शहरों (जैसे हरिद्वार, वाराणसी) के स्थानों को उनके घाटों (अर्थात् मूल रूप से धार्मिक स्नान के लिए सीढ़ियाँ) के लिए चिह्नित किया गया है। नदियाँ पीने योग्य पानी, सस्ता परिवहन, बिजली और आजीविका प्रदान करती हैं। वे मिट्टी में उर्वरता भी लाती हैं जो कृषि को बढ़ावा देती है। इस प्रकार नदियाँ (जल) आर्थिक विकास की भी प्रतीक हैं।

हाल के वर्षों में 'जल संरक्षण' और सुरक्षित जल लोगों के लिए बड़े संदेश हैं। इस संदर्भ में अलग-अलग संदर्भों में 'पानी बचाओ' और 'सुरक्षित पानी' अभियान चलाये जा रहे हैं। सामाजिक संचार माध्यम (सोशल मीडिया), साहित्य और संगीत के संदर्भ में जल से सम्बंधित सामाजिक संदेश हमारे चारों ओर घूम रहे हैं। हम सरलता से यह बात कह सकते हैं क्योंकि जल समृद्धि, स्वास्थ्य और शिक्षा प्रदान करता है।

****

''यो न हृष्यति न द्वेष्टिन सोचति न काङ्.क्षति।

शुभाशुभपरित्यागी भक्ति मान्य: स में प्रिय:''।।

श्रीमद्भगवद्गीता

अर्थात् 'जो न कभी हर्षित होता है, न द्वेष करता है, न शोक करता है, न कामना करता है तथा जो शुभ और अशुभ सम्पूर्ण कर्मों का त्यागी है – वह **भक्तियुक्त पुरुष मुझ को प्रिय है**'।

पंजाब के लोक वाद्य यंत्र

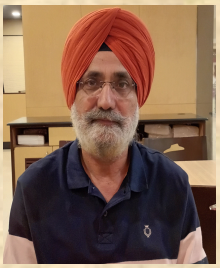

प्रोफेसर सुखदेव सिंह मिन्हास,
पूर्व अध्यक्ष, हिंदी विभाग
स्नातकोत्तर तहाविद्यालय,
सेक्टर-11, चंडीगढ़

भारतवर्ष विभिन्न धर्मों, सम्प्रदायों, संस्कृतियों, जातियों, रीति-रिवाजों, भाषायों और बोलियों का एक रंग-बिरंगा उद्यान है जिसकी खुशबू और रंगत समूचे विश्व से निराली है। हमारे देश के हर प्रांत और प्रत्येक हिस्से की अलग ही बानगी है, मगर भारत की विशिष्टता इसी में है कि यहाँ विविधता होते हुए भी पारस्परिक एकता की झलक देखी जा सकती है। बाहर से हम अलग दिखते हों, पर हमारी आत्मा एक सी है। हरेक प्रदेश के लोक गीत, लोक नृत्य, लोक वाद्य यंत्र भी उनके संस्कारों और भौगोलिक विशेषताओं के चलते अपनी विशिष्ट पहचान रखते हैं। यहाँ हम पंजाब प्रदेश के लोक गीतों और लोक नृत्यों में प्रयोग होने वाले वाद्य यंत्रों की जानकारी देने का प्रयास करेंगे। सारंग देव के लिखे ग्रन्थ 'संगीत रत्नाकर' के आधार पर भारतीय वाद्य यंत्रों के मुख्य चार भाग माने गये हैं:-

1. तत वाद्य यंत्र
2. घण वाद्य यंत्र
3. अवनध वाद्य यंत्र
4. सुषिर वाद्य यंत्र

1. तत वाद्य यंत्र–

तार से ध्वनि उत्पन्न करने वाले वाद्य यंत्रों को तत वाद्य यंत्र अथवा तंती वाद्य यंत्र कहा जाता है। लालमानीं मिश्र अपनी पुस्तक 'भारतीय संगीत वाद्य' में इनकी प्राचीनता को वैदिक काल के वाण, काण्ड वीणा, करकरी वीणा आदि तत वाद्य यंत्रों से जोड़ते हैं जिनमें समय समय के साथ कई परिवर्तन होते रहे हैं। तत वाद्य यंत्रों की उत्पत्ति धनुष से मानी जाती है। मनुष्य ने जब धनुष की प्रत्यंचा तान कर ढीली छोड़ी तो उसमें से एक प्रकार की ध्वनि उत्पन्न हुई जिससे आगे चलकर तत वाद्यों का विकास हुआ। पंजाब प्रांत में निम्नलिखित तत वाद्य यंत्रों का प्रयोग लोक नृत्य और लोक संगीत के साथ किया जाता है।

इकतारा (तूम्बी)

तूम्बी अति प्राचीन वाद्य यंत्र है। यह आमतौर से साधुओं का वाद्य यंत्र रहा है। प्राचीन काल में शास्त्रीय संगीत का अभ्यास करने हेतु इसका प्रयोग होता था। धीरे धीरे यह वाद्य यंत्र लोक गीतों में भी प्रयोग होने लगा। इसके आकार में आवश्यकतानुसार फेरबदल किया जाता रहा है।

शास्त्रीय गायन में इसके आकार और तारों को बढ़ा कर तानपूरे का रूप दिया गया। इसे छोटा करके तूम्बी या इकतारा बना दिया गया जिसका प्रयोग पंजाब के लोक गीतों में किया जाता है। पंजाब में तूम्बी भंगड़ा, मिर्जा, जुगनी आदि कई अन्य पंजाबी लोक गीतों के साथ बजाई जाती है।

आम तौर पर कद्दू या लकड़ी को खोखला करके खोल बना दिया जाता है। इसके बीच एक फुट तक किसी लकड़ी का डंडा गोल तराश कर लगा दिया जाता है। खोल के मुंह के ऊपर पतली खाल चढ़ाई जाती है और डंडे के ऊपर की तरफ लकड़ी की खूंटी लगाई जाती है जिसमें तार पिरोकर डंडे के निचली ओर तार को मरोड़ कर बाँध दिया जाता है। हाथ की अंगुली से इसे बजाया जाता है। महाराष्ट्र में इसे तुनतुना, बंगाल में घुघगुंनी और ईरान में कमंचा कहा जाता है।

सारंगी में सौ रंग होते हैं अर्थात् यह हर रंग से भरपूर होती है। इसे शास्त्रीय संगीत और लोक संगीत में प्रयोग किया जाता है। पंजाब के लोक संगीत में सारंगी का महत्वपूर्ण स्थान है।

सारंगी

इसके साथ हीर, सस्सी, मिर्जा आदि की कली गाई जाती है। इसे कमान की मदद से बजाया जाता है। बाएँ हाथ की अँगुलियों के नाखूनों के साथ तारों को पीछे से छूकर अपनी इच्छानुसार सुर निकाले जाते हैं। के. एस. कुठारी की पुस्तक 'इंडियन फोक म्यूजिकल इंस्ट्रूमेंट्स' के अनुसार पंजाबी लोक साज सारंगी से मिलते जुलते लोक वाद्य यंत्र भारत के अन्य प्रान्तों में भी मिलते हैं जिन्हें राजस्थान में ढाणी सारंगी, रावण हत्था,पसली सारंगी, मध्य प्रदेश में चिकारा, कश्मीर में सारंगा और असम में सारंजा नाम से जाना जाता है।

तूम्बा

तूम्बा भी तंती वाद्य है। इसे पंजाब में घुम्चु भी कहा जाता है। ऐसा वाद्य यंत्र महाराष्ट्र में भी मिलता है जिसे 'तुनतुना' कहा जाता है।

दोतारा

यह इक तारा का ही एक रूप है। इकतारा, दो तारा, चौतारा यह तीनों वाद्य यंत्र भक्ति संगीत में ही प्रयोग होते हैं।

दिलरुबा

यह एक तंती वाद्य यंत्र है। इसका निचला भाग सारंगी जैसा होता है और ऊपर का हिस्सा सितार से थोड़ा छोटा होता है। इसमें चार मुख्य तारें होती हैं जिनमे दो पीतल की और दो स्टील की होती हैं। इस वाद्य यंत्र की ईजाद मुस्लिम काल में हुई। इस किस्म का एक और साज है जिसे इसराज कहा जाता है।

(2) **घण वाद्य यंत्र**—इन वाद्य यंत्रों की ध्वनि किसी धातु या लकड़ी के आपसी टकराव से पैदा होती है।

चिमटा

यह वाद्य यंत्र पंजाब के प्रसिद्ध लोक नृत्य भंगड़ा में प्रयोग होता है। लोक गीतों में इसे ढोलकी के साथ बजाया जाता है। इसके अलावा, यह वाद्य यंत्र भजन, कीर्तन, नगर कीर्तन, प्रभात फेरी के समय भी बजाया जाता है। यह लोहे के दो पत्तरों से बना होता है। इसकी मूंठ के मोड़ पर एक गोल आकार का कड़ा लगा होता है। बाएं हाथ से उस कड़े को चिमटे के ऊपर मारा जाता है और दायें हाथ से चिमटे के दोनों पत्तरों को आपस में टकराते हुए इसे बजाया जाता है। चिमटे के उपर खड़ताल के समान छोटे -छोटे पीतल के गोल आकार के छुनछुने लगे होते हैं।

घड़ा

पंजाब की संस्कृति और संगीत में घड़े का विशेष स्थान है। आज भी सोहनी महिवाल के किस्से घड़े के साथ गाये जाते हैं। इसे दोनों हाथों से बजाया जाता है। एक हाथ घड़े के खाली मुंह के ऊपर मारा जाता है और दूसरा हाथ घड़े के बीच पेट के ऊपर मारा जाता है। यह वाद्य यंत्र ताल प्रधान है।

खड़ताल

इसे करताल के नाम से भी जाना जाता है। यह भी प्राचीन वाद्य यंत्र है। इसे मंदिरों और गुरुद्वारों में कीर्तन और भजन के साथ बजाया जाता है। अब इसका प्रयोग लोक संगीत में भी होने लगा है। यह लकड़ी के दो एकसमान टुकड़ों से बनायीं जाती है। इसकी लम्बाई 5 से 10 इंच और चौड़ाई 2 से 3 इंच तक की होती है। इसमें छोटे छोटे पीतल के छुनछुने भी लगे होते हैं जो आपस में टकराकर मधुर ध्वनि पैदा करते हैं। एक टुकड़े में अंगूठा डालने की जगह होती है और दूसरे में चार अंगुलियां डालने की जगह होती है।

घुंघरू

यह पंजाब का ही नहीं सारे भारत का मनपसंद वाद्य यंत्र है। भारत के हर प्रांत के और हर प्रकार के लोक नृत्य में इसका प्रयोग होता है। यह ताल प्रधान वाद्य है। यह पुरुषों और औरतों का साँझा वाद्य है। इन्हें पैरों में डाल कर नाचा जाता है।

सप्प

इसके नाम के अनुसार ही इसकी बनावट होती है। यह ऐसा वाद्य यंत्र है जो भारत के और किसी प्रदेश में देखने को नहीं मिलता। इसकी उत्पत्ति पंजाब में ही हुई है। इसका प्रयोग भंगड़ा, गिद्धा और लुड्डी आदि लोक में किया जाता है। इसकी आवाज ऐसी होती है मानो दस या पंद्रह आदमी एक साथ ताली बजा रहे हों। ताली की जरुरत को हल करने हेतु ही इसका ईजाद किया गया लगता है।

काटो

यह भी पंजाब का ख़ास वाद्य यंत्र है। इसका प्रयोग भी केवल पंजाब में ही देखने को मिलता है। ढडड सारंगी की जोड़ी की तरह सप्प और काटो की जोड़ी भी मशहूर है। इसकी बनावट एक डंडे और गिलहरी की शक्ल की होती है। काटो के मुंह को रस्सी बांधकर खींचा या ढीला छोड़ा जाता है। रस्सी खींचने और ढीली छोड़ने पर लकड़ी की बनी गिलहरी कभी ऊपर तो कभी नीचे घुंघरुओं की ताल के साथ उछलती है जो देखने में बहुत खूबसूरत लगती है।

खंजरी

इस वाद्य यंत्र का प्रयोग लोक गीत और लोक नृत्य में होता है। यह वाद्य यंत्र ताल प्रधान है। बाएं हाथ से पकड़ कर इसे दायें हाथ से बजाया जाता है। यह गोल आकार में बनी होती है। लकड़ी या पीतल की चादर से इसे तैयार किया जाता है। इसके घेरे को तीन या चार जगहों से काटकर तीन चार छुनछुने लगाये जाते हैं। जब खंजरी की खाल पर हाथ की थाप पड़ती है तब यह छुनछुने आपस में टकराकर बड़ी मधुर आवाज पैदा करते हैं। दक्षिण भारत में यह वाद्य 'गंजीरा' नाम से जाना जाता है।

(3) अवनध वाद्य यंत्र - यह वाद्य यंत्र अन्दर से खोखले होते हैं और चमड़े से मढ़े होते हैं। इनकी मुख्य विशेषता गायन और वादन को ताल और लय प्रदान करना है। ऐसे वाद्य यंत्रों की उत्पत्ति शिव जी के डमरू से मानी जाती है। भरत मुनि के 'नाट्य शास्त्र' में भी अवनध वाद्यों का उल्लेख मिलता है।

ढोल

पंजाब में चमड़े से मढ़े हुए जितने वाद्य मिलते हैं उनमें ढोल और ढोलकी का विशिष्ट स्थान है। ढोल ढोलकी का ही एक बड़ा रूप है। देखा जाये तो पंजाब में स्त्रियाँ अधिकतर ढोलकी का प्रयोग करती हैं और पुरुष ढोल का। ढोल पंजाब के लोक नृत्य जैसे भंगड़ा, गिद्धा आदि और ख़ुशी के अवसर पर बजाया जाता है। किसान फसल की कटाई के समय इसे बजाते हैं और कुश्तियों तथा अखाड़ों में भी ढोल बजता हुआ सुना जा सकता है। यह साज वीर रस और ताल प्रधान है।

ढोलकी

पंजाब के लोक गीतों में ढोलकी का अपना विशेष स्थान है। पंजाब का कोई भी ऐसा लोक गीत नहीं है जो ढोलकी के बिना गाया जाता हो। इसके अतिरिक्त गुरुद्वारों और मंदिरों में कीर्तन और भजन आदि के लिए ढोलकी का होना अनिवार्य है।

ढडड

ढढड प्राचीन अवनध साजों में से एक है। यह डौरु, डमरू, कुड़वा, डिमडिमी आदि वाद्य यंत्रों की जातियों में से एक है। यह डमरू से थोड़ी बड़ी होती है। लोक गीतों में सारंगी और ढडड एक साथ बजाये जाते हैं। पंजाब के ढाडी जत्थे प्रेम कथा, लैला मजनू, वार, हीर रांझा, सोहणी महिवाल आदि के किस्से ढडड सारंगी के साथ कलियों के रूप में गाते हैं। इसके अलावा ढडड-सारंगी के साथ वार का गायन भी किया जाता है। यह आम, शीशम, शहतूत आदि की लकड़ी की बनी हुई होती है। इसकी लम्बाई 10 से 12 अंगुल तक की होती है। डमरू के आकार की तरह इसका बीच का हिस्सा चिपका हुआ होता है।

नगाड़ा

यह वाद्य यंत्र भी प्राचीन वाद्यों की श्रेणी में आता है। राजे-महाराजे लड़ाई के समय इसका प्रयोग करते थे और इसे युद्ध के वाद्य यंत्रों की श्रेणी में रखा जाता है। नगाड़े के ऊपर चोट लगाने का मतलब था कि लड़ाई शुरू होने वाली है। यह वीर रस प्रधान वाद्य यंत्र है। इसके ऊपर कहरवा और दादरा ताल आसानी से बजाये जाते हैं। उत्तर प्रदेश की नौटंकी में इसे नक्कारा कहा जाता है। पंजाब में अब इसका प्रयोग गुरुद्वारों तक ही सीमित है। यह लोहा या किसी अन्य धातु से बना होता है और यह भैंस की खाल से मढ़ा होता है।

बुग्चू

इसे बुग्चू या बुग्दू भी कहा जाता है। पंजाब का यह परम्परागत वाद्य यंत्र है। यह साज विभिन्न सांस्कृतिक गतिविधियों, लोक नृत्य और लोक संगीत में प्रयुक्त होता है। यह लकड़ी से बना साधारण मगर विलक्षण वाद्य यंत्र है। इस की शक्ल भारतीय संगीत वाद्य डमरू से मिलती जुलती है। इसे बाईं बाजू के नीचे दबाकर दाहिने हाथ से बजाया जाता है।

(4) सुषिर वाद्य यंत्र ---यह वाद्य यंत्र मुंह की फूंक से बजाये जाते हैं। आधुनिक युग में सुषिर वाद्य यंत्रों के कई विकसित और प्रचलित रूप मिलते हैं।

पंजाब के लोक गीतों में इनका प्रयोग प्रमुखता से किया जाता है। बांस को खोखला कर इसे बनाया जाता है। यह बांसुरी का ही एक रूप है। दोनों अल्गोजों को एक साथ बजाया जाता है। इसमें चार से छह छेद होते हैं और इनमे एक साथ फूंक मारी जाती है। इसका सुर काफी ऊँचा होता है।

अल्गोजे

धीरे-धीरे भारत के गीत-संगीत में लोक वाद्य यंत्र अपनी पहचान खो रहे हैं और इनका स्थान पश्चिमी वाद्य यंत्र या इलेक्ट्रोनिक वाद्य लेते जा रहे हैं। लोक वाद्य यंत्रों की मांग कम होती जा रही है और इसी वजह से इन्हें बनाने वाले कारीगर भी लुप्त होते जा रहे हैं। जरूरत है भारत के लोक संगीत, लोक नृत्यों और लोक साजों को लुप्त होने से बचाने की, ताकि विश्व में भारत की संस्कृति का परचम लहरा सके। इस मंतव्य के लिए युवा पीढ़ी को अपनी सांस्कृतिक धरोहर बचाने और अपनाने के लिए प्रोत्साहित करना होगा। यह कार्य पारिवारिक स्तर, शैक्षणिक संस्थानों, सामाजिक क्षेत्र और सरकार के उद्यम से फलीभूत हो सकता है।

*****

परंपराओं की थाती : कोहबर

डॉ. आशा पाण्डेय,
प्रतापगढ़, उत्तर प्रदेश

'कोहबर' उस विशेष स्थान या कक्ष को कहा जाता है, जहाँ विवाह के समय कुलदेवता की प्रतिमा प्रतिष्ठापित करने के साथ-साथ कई प्रकार की वैवाहिक रस्मों को भी सम्पन्न किया जाता है। मूलतः ये भित्तिचित्र या शिलाचित्र परम्परा का रूप हैं जो अति प्राचीन है। भारत में कई जगहों पर इन शिलाचित्रों के अवशेष प्राप्त हुए हैं। भीमबेटका गुफा चित्र इसका सशक्त उदाहरण है।

मिर्जापुर में विन्ध्य पर्वत और कैमूर की पहाड़ियों की गुफाओं में पाषाण कालीन भित्तिचित्र पाए गए, तो झारखंड के हजारी बाग में कांस्ययुग के भित्तिचित्र मिले हैं। मिर्जापुर में जो चित्र मिले हैं उनका केंद्र लिखुनिया, भसोली, लोहड़ी के साथ कोहबर नामक एक स्थान है। हो सकता है विवाह में प्रयुक्त होने वाले इस भित्तिचित्र को 'कोहबर' नाम वहीं से मिला हो। आदि मानव अपने जीवन को निरंतर सभ्य और सुसंस्कृत बनाता रहा। भोजन उसकी पहली जरूरत थी, लेकिन उसे और भी बहुत कुछ चाहिए था। भोजन खोजकर वह शांत नहीं बैठा, अपितु भाषा, कला, गीत, नृत्य आदि जो उसे

सुख और संतोष देते थे, का सृजन करता रहा। सृजन सबसे बड़ा सुख है। कला सृजन का सुख देती है, भले ही वह गुफाओं में रहा, पर उनकी दीवारों को चित्रों से सजाने लगा।

समय बदलता रहा,आदिम मानव गुफा से बाहर निकला, झोपड़ियों को बनाया, मिट्टी के कच्चे घर बनाए। गाँव बसाए कृषि करना प्रारम्भ किया, धीरे-धीरे नगर बसे। सुख-सुविधाएं चहूँ ओर फैलीं, मानव व्यस्त से व्यस्ततम होता गया, किंतु मन के भीतर दबी कला राह पाकर बाहर निकलती रही। कला कोह (पहाड़) से चलकर घरों में आई और रोप दी गई विवाह संस्कार के साथ। अब कैसे बिसारेगा कोई इस कला को और क्यों बिसारेगा?

जीवन का यह सबसे बड़ा उत्सव 'विवाह' बिसरता है कभी! विवाह के साथ जुड़ा यह

कोहबर एक रागात्मक याद को लिए अंत तक साथ रहता है। विवाह के समय घर का कोई एक कमरा कोहबर के लिए सुरक्षित रखा जाता है। कोशिश यह रहती है कि अब तक हुई शादियों के समय जिस कमरे में कोहबर बनता चला आया है, वहीं इस बार भी बने, पर ये कोई अकाट्य नियम नहीं है। कमरे बदले भी जाते हैं।

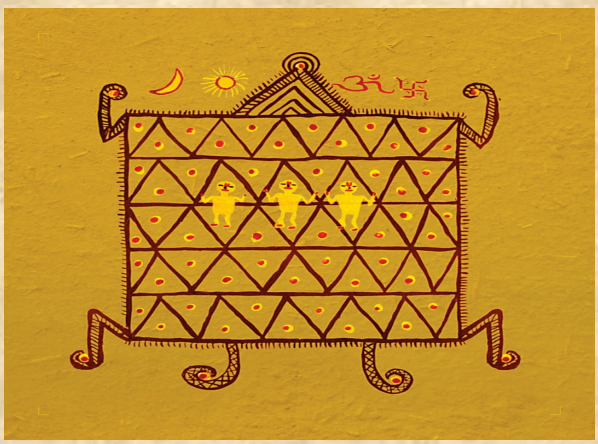

कोहबर बनाने का जिम्मा वर या वधू की बुआ का होता है। बुआ, जो इस घर की बेटी है, बहुत साल पहले विदा हो चुकी है। ससुराल में अपनी घर गृहस्थी में रमकर मायका उसके लिए पराया हो चुका है। अब वह कभी-कभी मेहमान की भांति आने लगी है। धीरे-धीरे यह आना भी कम से कमतर हो गया है। अपने जीवन संघर्षों में उलझा भाई भी बहन को धीरे-धीरे भूलने-सा लगा है, पर हमारी परम्पराएँ उसे भूलने नहीं देतीं। याद दिलाती रहती हैं कि अपने बेटे-बेटी का विवाह अकेले कैसे करेगा वह! मंडप में दूल्हे को काजल कौन लगाएगा? कोहबर कौन बनाएगा? कलश कौन गोठेगा? (सजाएगा) इस समय तो बहन को बुलाना ही पड़ेगा। यही तो वह दिन होगा जब बहन पूरी ठसक से भाई के घर आएगी और ऐसे ही नहीं आएगी, पूरे सम्मान के साथ उसे कोई लेने जायेगा, तभी आएगी। ये रिवाज बनाये ही इसलिए गए हैं कि बेटियाँ याद की जाती रहें। बुलाई जाती रहें। उनका मान-सम्मान उस घर में बना रहे, जहाँ वे जन्मी,खेलीं,पलीं,बढ़ीं हैं। यही तो वह घर होता है जो उन्हें अपना लगता है। जिसकी यादें उन्हें जीवन के अंत तक मिठास से भरे रहती हैं। वहाँ उन्हें भुला दिया जायेगा तो वे कैसे जी पाएँगी। यद्यपि आज स्थिति कुछ सहज हो चली है। मायके की याद आने पर बेटियाँ खुद ही मिलने चली आती हैं, किंतु पहले ऐसा नहीं होता था। उस दशा में ये रीति-रिवाज ही बेटियों को मायके लाने में सहयोग करते थे।

हाँ, तो बुआ जब कोहबर बनाने चलती है, भाभी एक सूप में किलो डेढ़ किलो चावल,एक भेली गुड़, कुछ रूपये आखत के रूप में रखती है। घर और रिश्ते की अन्य महिलाएँ अपने सामर्थ्य अनुसार कुछ रूपये नेछू (निछावर) के रूप में सूप में डालती हैं। फिर बुआ मुदित मन से कोहबर बनाती है। इस बीच मंगल गीत गाये जाते हैं –

कोहबरतौ बड़ा सुंदर,नाही जानेऊ काहे गुना...
नाही जाने उगैया के गोबर गुना, नाही जानेउ रंग गुना
ना ओहिंगैया के गोबर गुना ना ओहिं रंगे गुना
कोहबरतौ बड़ा सुंदर बुआ के रचे गुना।

इसमें यह कहा गया है कि कोहबर बहुत सुंदर बना है, पता नहीं इसका कारण क्या है? क्या गाय के गोबर के कारण, जिससे यह लीपा गया है या उस रंग के कारण जिससे यह रंगा

गया है? नहीं, ना तो यह गोबर के कारण सुंदर बना है ना ही रंग के कारण। यह इतना सुंदर इसलिए बना है क्योंकि बुआ ने इसे बनाया है)

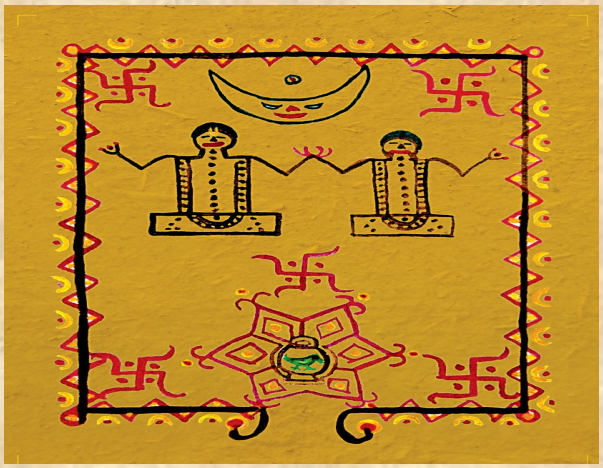

कोहबर बनाने में हल्दी, चावल का आटा, सफेद मिट्टी, गोबर, गुलाबी रंग या आलता का प्रयोग किया जाता है। इसे बनाने की कोई विशेष चित्रात्मक शैली नहीं होती है। ये लोक परम्परा,क्षेत्रीय विशेषता एवं रीति-रिवाजों पर आधारित होती है। उत्तर प्रदेश के प्रतापगढ़, सुल्तानपुर आदि क्षेत्रों में बहुत सामान्य चित्र बनाये जाते हैं। एक चौकोर रेखाचित्र के बीच में गोबर की बनी तीन निगरी चिपकाई जाती हैं। ऊँ, स्वस्तिक तथा तुलसी के पौधे आदि का चित्र बनाया जाता है। कहीं-कहीं आशीष के रूप में यह चौपाई लिखी जाती है।

'अचल रहयअहिबात तुम्हारा, जब लगि गंगजमुन जल धारा'

दीवाल पर हल्दी में डूबे हाथ के पंजों का छापा भी मारा जाता है, किंतु यहाँ से पूरब की ओर अर्थात् गोरखपुर, बस्ती, देवरिया तथा बिहार और झारखंड आदि क्षेत्रों में कोहबर भांति-भांति के चित्रों से सज्जित होता है। यहाँ चित्रों में बाँस, हाथी, तोता, सूर्य, चन्द्रमा, शेर, मोर, फूल-पत्ती, वर-वधू, हल ओखल, मूसल, शिव-पार्वती, विष्णु-लक्ष्मी, खिला हुआ कमल, मंडला, यंत्र, स्त्री-पुरुष आदि को भी चित्रित किया जाता है। इसमें वर-वधू के बीच प्रेम-भाव बढ़ाने की भावना होती है। इसके अतिरिक्त, इन चित्रों के द्वारा तत्कालीन जीवन मूल्यों तथा धार्मिक एवं सामाजिक संरचना को व्यक्त करने का प्रयास किया जाता है। चित्र बनाने के लिए प्राकृतिक रंगों के साथ-साथ प्राकृतिक ब्रशों का भी प्रयोग किया जाता है। ये प्राकृतिक ब्रश होते हैं –पतली लकड़ी,दातून, उँगलियाँ,रुई आदि।

विवाह में 'शुभ' का बड़ा महत्व होता है। कोहबर बनाने के लिए यही रंग,यही ब्रश शुभ हैं, यह कहकर बड़े बुजुर्ग बच्चों को प्रकृति से जोड़े रखते हैं। जोड़े रखते हैं अपने संस्कारों से, संस्कृति से,जो पीढ़ी-दर-पीढ़ी हस्तांतरित होकर मानव समाज के बीच मंद-मंद प्रवाहित रहती है, और जीवन को एक लय की तरह जीती हुई विकास की नित नई ऊँचाइयों में भी अपना महत्व बनाये रखती है। हम गाँव में रहें या शहर में, देश में रहें या विदेश में, बचपन में रोपे गए संस्कारों के साथ ही जीते हैं। ये हमारी संस्कृति की विशेषता है, भौगोलिक सीमाएं उसे बांध नहीं पाती हैं।

हाँ, तो बुआ के द्वारा कोहबर बनाकर तैयार कर दिया जाता है। तमाम रस्मों को निभाते-निभाते समय आता है विवाह की बैठकी का। ढोलक की थाप एवं मंगल गीतों की मधुर ध्वनि के साथ वैवाहिक उत्सव की शुरुआत होती है-

कन्यादान, पवपुजी, पाणिग्रहण, फेरों, सिंदूरदान के बाद समय आता है आशीर्वाद का। दोनों पक्ष के बड़े-बुजुर्ग वर-वधू को आशीष देते हैं। स्वस्ति वाचन के उपरांत पंडित जी घोषणा करते हैं कि विवाह सम्पन्न हुआ अब वर-वधू को कोहबर में ले जाया जाय। विवाह प्रारम्भ होते समय का महिलाओं का उत्साह जो गीत गाते, हँसी-ठिठोली करते-करते अब रात्रि के अंतिम प्रहर तक मंद हो गया रहता है, 'कोहबर' शब्द सुनते ही फिर से बढ़ जाता है। वधू की सहेलियाँ,बहनें,भाभियाँ हर्षित हो उठती हैं- अब वर को अकेले घेरने का समय है। शरारत और चुहुल का समय है।

वर-वधू कोहबर में जाने के लिए मांडव (मंडप) से उठते हैं| उनके पीछे महिलाओं का झुंड भी उठता है। गीत के बोल फूटते हैं-

'कांसपितरिया का इहैलोनाकोहबर, अरे इहैलोनाकोहबर, मालिक रचा है बिआह....'

कोहबर में ले जाकर भित्तिचित्र के सामने वर-वधू को बैठाया जाता है। मिट्टी के एक दिये में तेल भरकर दो बातियां जलाई जाती हैं। वर को कहा जाता है कि वह इन दोनों बातियों को मिलाकर एक कर दे और इतनी अच्छी तरह से एक कर दे कि दोनों बातियाँ मिलकर एक ज्योति के रूप में जलें। प्रतीक के माध्यम से ये सीख दी जाती है कि अब वर वधू को भी अपने-अपने 'स्व' को छोड़कर इसी तरह एक होना है। एक दूसरे में, एक दूसरे के लिए एकाकार होकर गृहस्थ-जीवन बिताना है। गृहस्थी की गाड़ी में 'स्व' का कोई स्थान नहीं होता है।

वर को बाती मिलाने के लिए एक पतली लकड़ी या माचिस की तीली दी जाती है, किन्तु वर बाती नहीं मिलाता है। उसे इस कार्य के लिए सोने की सलाई चाहिए। लड़की वाले सम्पन्न हैं तो सोने की सलाई दे दी जाती है। नहीं तो पैसे देकर मनुहार किया जाता है कि दूल्हा बाती मिला दे। कुछ देर की मान-मनुहार के बाद वर बाती मिलाता है। इस बीच वधू की सहेलियाँ,बहनें, भाभियाँ वर से मजाक भी करती जाती हैं। बाती मिलाने के बाद वर-वधू से आग्रह किया जाता है कि वे एक-दूसरे को दही गुड़ खिलाएँ। यहाँ इस नये जोड़े का संकोच देखते बनता है। आस-पास बैठी महिलाएँ कौतूहल से इस दृश्य को देखती हैं। फिर आती है पंसा खेलने की बारी।

कोहबर में निभाए जाने वाले रिवाज उस समय के हैं जब वर-वधू विवाह के पहले परिचित नहीं होते थे। एक दूसरे के प्रति संकोच से भरे इस नये जोड़े की झिझक को कुछ हद तक तोड़ने के लिए कोहबर की रस्में मुख्य भूमिका निभाती थीं। इसी उद्देश्य से यह खेल भी था। खेल, खेलना मन को प्रफुल्लित करता है। मन के संकोच को हटाकर एक दूसरे को करीब लाता है। पंसा के इस खेल में पीतल या कांसे की बड़ी थाल में पानी भरकर उसमें दूध, दही, हल्दी तथा फूल की कुछ पंखुड़ियों को डाला जाता है। एक तो ये चीजें शुभ मानी जाती हैं, दूसरे इन सब चीजों को डाल देने से थाल में भरे पानी की पारदर्शिता कम हो जाती है। अब उस पानी में सोने या चांदी का कोई आभूषण, अधिकांशतः अंगूठी किसी महिला के द्वारा डाली जाती है और वर-वधू उसे टटोलकर निकालते हैं। जिसके हाथ

में अँगूठी पहले आ जाती है, वह विजयी होता है। इस प्रक्रिया को पांच या सात बार दोहराया और गिना जाता है कि वधू कितनी बार जीती या वर कितनी बार जीता।

पहले अक्सर वर ही जीतता था। वधू तो संकोच से भरी, अंगूठी खोजने के लिए हाथ ही नहीं बढ़ाती थी। उसकी सहेलियाँ, भाभियाँ उसका हाथ पकड़ कर अंगूठी खोजने में मदद करती थीं। उसे जीतने के लिए प्रेरित करती थीं, पर वह संकोच से लबरेज़ हाथ बटोर लेती थी। प्रयास व्यर्थ चला जाता था।

वे लोग दुल्हन को प्रेरित नहीं कर पाती थीं क्योंकि प्रेरणा ऊपर-ऊपर होती थी,भीतर से वे लोग भी हारने की ही प्रशंसा करती थीं। झपट्टा मारकर पति से जीत जाने वाली वधुएँ हँसी की पात्र बनती थीं तो इस तरह जीत की प्रेरणा ही व्यर्थ थी। वधू हारने में ही खुश थी और फिर पति से क्या जीतना! जीत तो पति की ही होनी चाहिए। हर पल पति से हारने की शुरुआत यहीं से हो जाती थी क्योंकि हारने वाली पत्नियाँ सुलक्षणा कहलाती थीं।

एक संतोष यह होता था कि हारकर भी वे बहुत कुछ पाती हैं- आस पास के लोगों से प्रशंसा, सम्मान। मन में पति के हृदय को जीत लेने का गहरा भाव भी समाया रहता था। तो सह लेना, सहते जाना,अपने सुखों को छोड़ते जाना, जीत का गर्व है कि अब गृहस्थी में प्रवेश के बाद इस जीत-हार का कोई अर्थ नहीं। गृहस्थी में जीत-हार का अर्थ वर के लिए भी नहीं होना चाहिए था, पर उसे होता था। घर में भी गर्व से रहना,सिर उठाकर चलना वर को सिखाया जाता था। उसके इसी स्वभाव से उसका मान बढ़ता है। इस प्रकार जीत का गर्व और हार की दर्दीली मुस्कान कोहबर से ही शुरु हो जाती थी।

कोहबर बराबरी का स्थल था जहाँ बाती मिलाई जाती थी, दही-गुड़ खिलाया जाता था, पांसे का खेल खिलाया जाता था, इस भावना के साथ कि 'स्व' को छोड़कर अब वर-वधू एक हो जाएँ। आगे जीवन में भी संघर्षों को झेलते हुए, तमाम निर्णयों को लेते हुए दोनों में से कोई भी आगे बढ़ सकता था।

एक की इच्छा चल सकती थी, दूसरा अनुगामी बन सकता था, पर संकोच की प्रशंसा कर वधू के मन से जीतने का भाव ही निकाल दिया गया और वह जीवन भर हारती रही, संतुष्ट होती रही। किन्तु अब परिस्थितयाँ बहुत बदल गई हैं। कोहबर में पंसा बराबरी से खेला जा रहा है और गृहस्थी में भी पत्नी का दमदार दखल होता है। सोच बदल रही है। कोहबर के बराबरी वाले शाश्वत भाव को अब जी रहे हैं लोग। सहज हो रहा है स्त्री-जीवन।

जीवन में सहजता-सरलता बनी रहे, इसलिए इन लोक रीति-रिवाजों के स्वस्थ भाव का बना रहना जरूरी है। समय-समय पर रीति-रिवाज, लोक मान्यताएँ, हमारी निष्ठुर होती जा रही अन्तरात्मा को झकझोरने का कार्य करती हैं, सजग बनाती हैं। याद दिलाती हैं कि किसी को बिसारो मत, उल्लास में रहो, समभाव में रहो और प्रेम करते रहो प्रकृति को, संस्कारों को, रीति-रिवाजों को, कि यही हमारी थाती है।

*****

भारतीय कृषि संस्कृति

आशुतोष कुमार,
उप निदेशक,
भारतीय कृषि अनुसंधान परिषद,
नई दिल्ली

हम कितने भी परिष्कृत और आधुनिक हो जाएं, लेकिन कृषि के महत्व को नकारा नहीं जा सकता। मनुष्य की भूख कृषि क्रियाओं से पूरी होती है। आर्थर कीथ ने बहुत अच्छा कहा है, "कृषि की खोज सभ्य जीवन की दिशा में पहला बड़ा कदम था।" इस उद्धरण को एक पंक्ति में सरलता से समझा जा सकता है कि कृषि सभ्यता का आधार है। हमारा जीवन कृषि पर निर्भर करता है।

यह वह भोजन है जिसे हम खाते हैं, कपड़े पहनते हैं, हमारे घरों की सामग्री और यहाँ तक कि हमारे आसपास के बगीचे पर भी निर्भर करते हैं। कृषि केवल हमारे द्वारा खाए जाने वाले भोजन तक ही सीमित नहीं है, बल्कि स्वास्थ्य, व्यक्तिगत देखभाल, शिक्षा, निर्माण सामग्री आदि जैसी अन्य वस्तुओं तक विस्तारित है।

भारत में कृषि केवल एक पेशा नहीं है, बल्कि एक संस्कृति, परंपरा है जिसका पालन वर्षों से किया जा रहा है। चाहे आप वेदों की बात करें, या आर्थिक विकास की, कृषि की अपनी उल्लेखनीयता है। इसका महत्व वैदिक युग से ही है। उदाहरण के लिए सबसे प्राचीन वेद, ऋग्वेद में आर्यों के बारे में उल्लेख किया गया है कि वे इस देश के मूल निवासी थे। वे बहुत अनुशासित और संगठित थे और एक ही स्थान पर रहते थे। उनके जीवनयापन का मुख्य स्रोत खेती और पशु पालन था। ऋग्वेद के सूक्त में कहा गया है,, 'अक्षैर्मा दीव्यः कृषिपित्कृषस्व' अर्थात् जुआ खेल कभी नहीं खेलना चाहिए, उसके स्थान पर कृषि कार्य करना चाहिए।

"अश्वत्थः सर्ववृक्षाणां, देवर्षीणां च नारदः"
गंधर्वाणां चित्ररथः, सिद्धानं कपिलों मुनि।"
।। 20.26 ।।

इस श्लोक में श्री कृष्ण ने अपनी तुलना पीपल के पेड़ से की है जो रात में भी ऑक्सीजन देता है और सभी पेड़ों के लिए सर्वोत्तम है। पेड़ों के महत्व का वर्णन पौराणिक ग्रंथों में भी किया गया है।

भारत में कुल जनसंख्या का लगभग सत्तर प्रतिशत हिस्सा खेती और अन्य कृषि गतिविधियों में लगा हुआ है। भारत की भौगोलिक परिस्थितियाँ कृषि के लिए अद्वितीय हैं क्योंकि यहाँ खेती के लिए कई अनुकूल परिस्थितियाँ जैसे जलवायु, मिट्टी आदि उपलब्ध हैं और ये कृषि उत्पाद एक बड़ी कृषि-आधारित कंपनी को कच्चा माल प्रदान करते हैं जो भारत में प्रचुर मात्रा में हैं। मिट्टी और जलवायु की स्थिति के अलावा, कृषि उत्पादन में वृद्धि के लिए हर दिन विभिन्न वैज्ञानिक तकनीकें और नवाचार किए जाते हैं। भारत में कृषि सबसे बड़ा

उद्योग है और यह देश के सामाजिक-आर्थिक विकास में भी महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है।

हमारे आदरणीय प्रधानमंत्री श्री नरेंद्र मोदी ने आईसीएआर के कार्यक्रम में कृषि संस्कृति के महत्व पर प्रकाश डालते हुए कृषि के लिए उपयोग किए जाने वाले विज्ञान और प्रौद्योगिकी पर जोर दिया है। प्रधानमंत्री ने वैज्ञानिकों और नीति निर्माताओं को संबोधित करते हुए उनसे सीमित संसाधनों के साथ खेती में और अधिक उच्च तकनीक लाने का आग्रह किया। इस समारोह में न केवल उन्होंने वैज्ञानिकों को संबोधित किया, बल्कि उन्होंने खड़े होकर किसानों का अभिनंदन भी किया। खेती के पारंपरिक तरीके को खत्म नहीं किया जा सकता है, लेकिन इसे वैज्ञानिक तकनीक के साथ अपनाने से उत्पादन में मदद मिल सकती है और यह कृषि वैज्ञानिक पद्धति से होनी चाहिए। भारत एक कृषि प्रधान देश है और कुल सकल घरेलू उत्पाद में कृषि का योगदान 16% है। कुल निर्यात आय का दस प्रतिशत कृषि पर निर्भर करता है। इस प्रकार हमारे पास कृषि तकनीक विकसित करने और फसल उत्पादकता में सुधार करने के अलावा कोई विकल्प नहीं है। कृषि में प्रौद्योगिकियों का आविष्कार करना बहुत जरूरी है ताकि हमारे किसान भारत के साथ-साथ दुनिया का पेट भी भर सकें और हमारे देश की अर्थव्यवस्था को भी मजबूत कर सकें। उन्होंने कृषि विश्वविद्यालयों से अपना स्वयं का रेडियो स्थापित करने की भी अपील की ताकि किसानों को कृषि की सभी नवीनतम तकनीकों से अच्छी तरह अवगत कराया जा सके। छात्रों को प्रयोगशाला में शोधकर्ताओं के साथ जुड़ना चाहिए और किसानों को बताना चाहिए कि फसल उत्पादकता में सुधार कैसे किया जाए। प्रधानमंत्री की "प्रति बूंद, प्रति फसल" योजना पानी के संरक्षण के लिए है और किसानों और वैज्ञानिकों से दुर्लभ संसाधनों के इष्टतम उपयोग के माध्यम से कृषि उत्पादकता बढ़ाने के तरीके खोजने और काम करने की दिशा में मजबूत प्रयास है। भारत में कृषि का विकास बहुत महत्वपूर्ण है क्योंकि हमारी अर्थव्यवस्था इसी पर निर्भर करती है। संसाधन सीमित हैं इसलिए पारंपरिक और वैज्ञानिक दृष्टिकोण, दोनों का स्मार्ट तरीके से उपयोग करना महत्वपूर्ण है ताकि दुर्लभ संसाधनों के उपयोग से फसलों की उत्पादकता में सुधार किया जा सके।

भारत के परंपरागत परिदृश्य में कृषि एक व्यवसाय ही नहीं, एक विज्ञान, एक जीवन शैली और सबसे बढ़ कर एक संस्कृति भी है। यही वजह है कि भारत में बहुत से लोग अन्न को ब्रह्म का रूप मानते हैं। अगर हम अपनी कृषि संस्कृति के परंपरागत स्रोतों को खोजने का प्रयास करेंगे तो पाएंगे कि वहां कृषि केवल वन संपदा के विनाश से ताल्लुक रखने वाली सभ्यता नहीं है, जैसा कि उसे पश्चिमी विद्वानों द्वारा देखा-दिखाया जाता रहा है। इसकी बजाय वह प्रकृति पूरक विकास की ओर बढ़ने की संभावनाओं से युक्त एक संस्कृति भी है।

प्राचीन काल में कृषि संस्कृति अपने भौतिक आधार से आध्यात्मिक आयाम तक स्वाभाविक रूप में विकास करती दिखाई देती है। उस काल तक अन्न का भौतिक संसार अपनी गहराई में ब्रह्म से जुड़े गहरे स्तरों को अपने भीतर ही छिपाए रहता है। तेत्तीरियोपनिषद् में

भृगु अपने पिता वरुण से कहते हैं कि उन्होंने जान लिया है कि अन्न ही ब्रह्म है। तब वे अपने पुत्र को अन्न के और गहरे स्तरों में उतरने के लिए कहते हैं। सिलसिलेवार तरीके से भीतर उतरते हुए भृगु अन्न से प्राण तक जाते हैं, फिर प्राण से मन तक पहुंचते हैं, मन से विज्ञान तक और अंत में आनंद तक का सफर तय करते हैं। ब्रहा अपने भौतिक अस्तित्व में अन्न के रूप में प्रकट होकर जीवन को गतिमान करता है और अपने गहरे स्तर में आनंद की अनुभूति के रूप में सामने आता है।

इसी तरह कृषक पृथ्वी पर एक श्रमिक की तरह अन्न उपजाता हुआ भी स्वर्ग के देवों के पर्याय के रूप में हमारे सामने रहता है। वेदों में किसानी से जुड़े हुए देवता इंद्र, वरुण और पूषा हैं जिन्हें किसानों के स्वभाव का पर्याय कह सकते हैं। किसान उन देवों के पार्थिव प्रतिनिधि के रूप में हमारे सामने रहते हैं। संभवतः इसीलिए इंद्र का नाम आज भी उत्तर भारत के जाट बहुल किसानों में अपनी निरंतरता बनाए हुए है। वह देवेंद्र, सुरेंद्र, बलवेंद्र, नरेंद्र, राजेंद्र आदि रूप में लगभग सभी के नामों में विद्यमान दिखाई देता है। इससे यह साबित होता है कि भारतीय संस्कृति अपने वैदिक काल से लेकर हमारे समय तक कृषक समाज की चेतना का नियमन करती आ रही है।

उपनिषद् काल के बाद प्रकट हुए अनेक दर्शन कृषि से संबंधित विविध धारणाओं को गहरे अर्थ की व्यंजना करने के लिए प्रयोग में लाते हैं। योग दर्शन कहता है कि मनुष्य के कर्म संसार में अगर किसी को कर्मों के प्रसवित होते रहने की स्थिति से निजात चाहिए, तो उसे प्रति प्रसव' द्वारा 'निर्बीज समाधि' तक जाना होगा। हम देख सकते हैं कि यह पूरी शब्दावली किस कदर खेती-बाड़ी से जुड़ी हुई है। बाद में कृषि को विज्ञान के रूप में विकसित करने के प्रयास भी हुए, जैसा कि कौटिल्य के अर्थशास्त्र में मौजूद अनेक सूत्रों में दिखाई देता है। वहाँ मधु और शकुद लेपन से बीजों की बेहतर फसल देने की क्षमता के विकास की बात की गई है। चौथी शताब्दी ईसा पूर्व के आसपास पाराशर ऋषि द्वारा रचित 'कृषि पाराशर' नामक ग्रंथ मिलता है जो खेतीबाड़ी के वैज्ञानिक विकास का ग्रंथ है। इसके अलावा, कश्यप ऋषि का कृषि सूक्त भी कृषि को विज्ञान की तरह ग्रहण करने की दिशा में आगे बढ़ता है। लेकिन बाद में मध्यकाल का जो परिदृश्य हमारे सामने उपस्थित होता है, उसमें कृषि के इस भौतिक और वैज्ञानिक पक्ष की बजाय, उसके आदर्शीकरण और प्रतीकीकरण की बात अधिक सामने आती है। दूसरा फर्क यह पड़ता है कि मध्यकाल तक व्यापारिक पूंजी के उदय के कारण कृषि से मुनाफा कमाने की प्रवृत्ति जोर पकड़ती है। इससे कृषि को वन के विकल्प की तरह खोजी गई कुदरती जीवन शैली की तरह अपनाने की सांस्कृतिक चेतना पृष्ठभूमि में धकेल दी जाती है और उसके बजाय वह एक व्यवसाय के रूप में ग्रहण करने की बात में बदलने लगती है। पर हमारी संस्कृति का प्राचीन आधार कृषि को पवित्र मानने पर जोर देता रहता है।

उसके आधार पर स्थापित जिन जीवन मूल्यों को ग्रहण करने की बात इस कृषि संस्कृति के केंद्र में दिखाई देती है, वे हैं आपसदारी, सहकारिता, सहयोग मूलक लंगर सेवा, श्रमशक्ति को तप करने के समकक्ष मानने से

संबंधित साधना भूमि। जैसा बीजोगे, वैसा काटोगे, से जुड़ी न्याय चेतना जीवन को सर्वोपरि बनाने के लिए अन्नमय देह को ब्रह्ममय मानने से जुड़ी आत्मबोधक नैतिकता, व्यापारिक पूंजी द्वारा कृषि को लाभकारी व्यवसाय में बदलने के लिए जिस व्यावहारिकता की जरूरत थी, वह किसान को आत्मविरोधी आचरण लगती थी। अपने फायदे को सर्वोपरि मानने से जुड़ी ऐसी व्यवसाय बुद्धि, इस परंपरागत सांस्कृतिक चेतना से मेल नहीं खाती थी। वणिक बुद्धि के वे लोग जो कृषि के आधार पर जीने वाले किसान और मजदूर के दोहन और शोषण तक चले गए थे, उस काल के कवियों-संतों ने उनकी कड़ी आलोचना की है। उनकी इस आलोचना के निशाने पर है, मध्यकाल में उपस्थित हुआ 'कृषि संस्कृति का अंतर्विभाजन'। यह अंतर्विभाजन संस्कृति को भौतिक और आध्यात्मिक संसाधनों में दो फाड़ करता है। एक तरफ व्यापारिक पूंजी के अंतर्विरोधों से संकटग्रस्त हुआ अर्थतंत्र है, तो दूसरी तरफ से यूटोपिया के रूप में अतीत को भविष्य में बदलने का विकल्प।

व्यापारिक पूंजी के अंतर्विरोधों के कारण पैदा हुए मध्यकाल के सांस्कृतिक अंतर्विभाजन के समन्वय के लिए, उस वक्त कुछ यूटोपियाई धारणाएं कारगर सिद्ध हुई थी। पर अब कॉरपोरेटरी पूँजी से उपजने वाले हालात हमारे सामने है। वे सांस्कृतिक अजनबीकरण को जन्म दे रहे हैं। इससे उबर पाने का एक ही तरीका बचा है, पूरे समाज का सांस्कृतिक रूपांतरण, जो एक नए विकास मॉडल को लाने के लिए प्रतिबद्ध सत्ता परिवर्तन के उपस्थित होने तक इंतजार कर सकता है।

कृषि भारत की आजीविका, सभ्यता, संस्कृति और विरासत का आधार है। 140 करोड़ की आबादी के साथ भारत दुनिया का दूसरा सर्वाधिक आबादी वाला देश है। कुल 328 मिलियन हेक्टेयर (एमएचए) भूमि के साथ, भारत दुनिया का सातवां सबसे बड़ा देश है। भारत के पास लगभग 160 मिलियन हेक्टेयर कृषि योग्य भूमि है जो अमेरिका के बाद दूसरी सबसे बड़ी भूमि है। देश में सभी 15 प्रमुख जलवायु क्षेत्र उपलब्ध हैं। इसके अलावा, भारत इस गृह पर पाई जाने वाली 60 प्रकार की मिट्टी में से 46 प्रकार की मिट्टी पाए जाने वाला भू भाग है। यह अपने कुल भौगोलिक क्षेत्र का लगभग 50% खेती करता है। भौगोलिक दृष्टि से अधिक उपयुक्त भारत-गंगा के मैदान (आईजीपी) और पूर्वी तट के डेल्टाओं में कुल भौगोलिक क्षेत्र में खेती योग्य भूमि का अनुपात अक्सर 90% से अधिक हो जाता है। भारतीय कृषि दुनिया की सबसे पुरानी प्रणालियों में से एक, विविध, विषम, असंगठित है और अक्सर "बीज से बाजार तक" विभिन्न चरणों में अनियमितताओं के अधीन होती है। यह देश की दीर्घकालिक और समावेशी आर्थिक वृद्धि के लिए अर्थव्यवस्था का एक महत्वपूर्ण क्षेत्र है। यह क्षेत्र 49.6% कार्यबल को रोजगार देता है जो अक्सर मौसमी, अल्प-रोज़गार और कम वेतन वाला होता है, और भारत के सकल घरेलू उत्पाद का 17% है। भारत का विशाल और विविध कृषि क्षेत्र इसे अनाज, चीनी, दूध, फल और सब्जियां, अंडे और मसालों का प्रमुख उत्पादक बनाता है। भारत में कृषि क्षेत्र अपने समाज की रीढ़ बना हुआ है। दुनिया के केवल 4% जल संसाधनों और दुनिया की 2.4% भूमि के साथ, भारत दुनिया की

17.8% आबादी और 15% पशुधन आबादी का समर्थन करता है। भारत से अधिक विविध खाद्य और गैर-खाद्य कृषि आधार वाला कोई अन्य देश नहीं है, जो भारत के विश्व कृषि व्यापार नेतृत्वकर्ता बनने की संभावना को बढ़ाता है।

भारत में कृषि क्षेत्र ने हाल के वर्षों में सराहनीय प्रदर्शन किया है। वर्ष 2017-18 और 2021-22 के बीच 3.7% की चक्रवृद्धि वार्षिक वृद्धि दर (सीएजीआर) से विस्तार हुआ है। 2021-22 में अनुमानित वास्तविक कृषि सकल मूल्य वर्धित (जीवीए) रु. 21.1 लाख करोड़ (यूएस $256.4 बिलियन), जो कुल जीवीए का 15.5% और महामारी-पूर्व स्तर से 6.4% अधिक है। महामारी के दौरान भी, खाद्यान्न, अनाज, दालें और तिलहन सहित सभी उत्पादों के लिए कृषि जीवीए में वृद्धि हुई है जिससे देश को आवश्यक खाद्य सुरक्षा प्राप्त हुई है।

देश का कुल खाद्यान्न उत्पादन 2021-22 में रेकॉर्ड-उच्च 314.6 मिलियन टन होने का अनुमान लगाया गया था, जो 2010-11 की तुलना में 3.8 मिलियन टन की वृद्धि है। 2017-18 से 2021-22 तक अनाज और दालों का उत्पादन क्रमशः 2.0% और 1.8% की सीएजीआर से बढ़ा है। भारत में कृषि उद्योग का विकास संभव नहीं होता, यदि सरकार द्वारा इस क्षेत्र को बढ़ावा देने के लिए विभिन्न पहल नहीं की जाती। आज कृषि संस्कृति का अर्थव्यवस्था से जुड़ाव देश के विकास में महत्वपूर्ण योगदान दे रहा है, जो भावी लाभकारी कृषि नीतियों के लिए सुखद संदेश है।

चित्र 1: पारंपरिक कृषि

भारत को हमेशा से एक कृषि प्रधान देश माना गया है। कृषि प्रधान समाज ने हमारी अर्थव्यवस्था, संस्कृति और पारंपरिक मूल्यों में भी अपना स्थान बनाया है। पीछे मुड़कर देखें तो सिंधु घाटी सभ्यता से पहले भी कृषि जीवन का एक तरीका था। नवपाषाण क्रांति के दौरान गेहूं और जौ उगाए गए थे और सिंधु घाटी सभ्यता के दौरान सिंचाई पूरे जोरों पर थी। कृषि लौह युग से लेकर प्रारंभिक और मध्य युग तक सभी युगों में फली-फूली। विभिन्न प्रकार की फसलें उगाई गईं और भारत अपने मसालों के लिए जाना जाने लगा। मसालों के केंद्र में आने से व्यापार बढ़ा और मुगल काल तक जारी रहा। भारतीय किसानों की तकनीक और कौशल उन्नत थे, और संभवतः दुनिया में सर्वश्रेष्ठ में से एक थे। पिछले कुछ वर्षों में किसानों ने शहतूत, कॉफ़ी, तम्बाकू, चाय जैसी नई फ़सलें अपनाईं और पपीता, अनानास और आम से लेकर विभिन्न फलों की नई प्रजातियाँ उगाईं। ब्रिटिश उपनिवेशीकरण से पहले भारत में प्रति व्यक्ति कृषि उत्पादन सबसे अधिक था और खाद्य कीमतें कम थीं।

ब्रिटिश नकदी फसलों जैसे कपास, अफ़ीम, नील, चावल और गेहूं के तहत नियमित रूप से निर्यात किया जाता था। भारतीय कृषि उपज के लिए वैश्विक बाजार खुला था लेकिन अधिक से अधिक गड़बड़ियाँ दिखाई देने लगीं। कृषि व्यापार अंग्रेजों के आने से पहले भी होता था लेकिन उपनिवेशीकरण के बाद कृषि के व्यावसायीकरण में बदलाव अत्यधिक प्रमुख था। अमीर और गरीब किसानों के बीच विभाजन बहुत बढ़ गया और जमींदारों और जमींदारों ने बहुत अधिक नियंत्रण अपने हाथ में ले लिया। कुल मिलाकर, कृषि मामलों की स्थिति बिगड़ती गई और अव्यवस्थित, जटिल और पेचीदा हो गई।

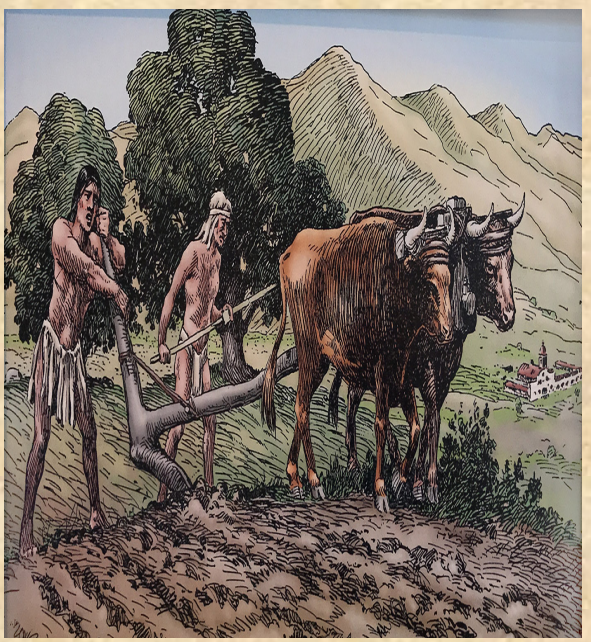

चित्र 2: कृषि का बदलता स्वरूप

आजादी के बाद कृषि की स्थिति और अर्थव्यवस्था को बेहतर बनाने के लिए कई बदलाव लागू किए गए। बेशक, जमींदारी प्रथा को समाप्त कर दिया गया और कई अन्य सुधारों का मसौदा तैयार किया गया। हरित क्रांति ने उद्योग में काफी बदलाव ला दिया, हालांकि कृषि क्षेत्र फिर कभी सुदूर अतीत की अपनी महिमा हासिल नहीं कर पाया। कई सुधारों के बावजूद समस्याएँ जारी रहीं, जो कागज़ पर तो अच्छे लगते थे लेकिन कभी भी पूरी तरह क्रियान्वित नहीं हुए या सोच के अनुरूप परिणाम नहीं मिले।

कृषि में कार्यरत कार्यबल में गिरावट शुरु हो गई, गरीब और भूमिहीन किसान पलायन करने लगे या वैकल्पिक रोजगार के अवसर खोजने लगे। जो घर बचे रह गए उनमें 1993-2000 तक देश में 'गरीबी की सबसे अधिक घटना' दर्ज की गई। वर्षों से किसान को पीड़ा झेलनी पड़ी है और शहरी वर्ग ने उनके दुखों की कहानियाँ पढ़ी और दोहराई हैं, चाहे वह किसानों की आत्महत्याएँ हों, सूखा हो, बाढ़ हो, जमाखोरी हो या कर्ज़ हो।

फिर भी, भारत विभिन्न कृषि उत्पादों, जैसे नारियल, अदरक, केला, हल्दी, गेहूं, मूंगफली, फल, सब्जी आदि में अग्रणी उत्पादक बना हुआ है। सभी किसानों के वास्तविक सशक्तिकरण की तुलना में उत्पादन का यह विरोधाभास अभी भी बना हुआ है।

जटिलता का मामला, जो वर्षों की पराधीनता, नीतियों, सुधारों, औद्योगिकीकरण आदि से जुड़ा हुआ है। समाधान सरल नहीं हैं, सिर्फ इसलिए कि समस्याएं बहुत विविध हैं और सभी बोर्डों में फैली हुई हैं। लेकिन भारतीय किसान और कृषि या खेती की भावना एक ऐसे राष्ट्र की सामूहिक कल्पना से मिटने से इनकार करती है जिसकी परंपराएं और संस्कृति इसके गांवों और खेतों में गहराई से निहित हैं।

चित्र 3: खेत में निजी उपज

कृषि भारत की सबसे मजबूत एवं मूलभूत संस्कृति रही है। हां, एक समय अस्सी प्रतिशत से अधिक आबादी कृषि में शामिल थी और आज यह संख्या घटकर लगभग 50% रह गई है। हालाँकि, खेती और कृषि हमेशा आजीविका के साधन से आगे बढ़ी है। यह सांस्कृतिक अस्तित्व का सार बन गया है। 'खेत' और 'खल्यांस' से एक राष्ट्र की सच्ची भावना का उदय हुआ, जिसने इसमें जीवन जीने के सबसे सरल और बुनियादी तरीकों को पाया। खेती के कैलेंडर और मानसून चक्र के अनुसार मनाए जाने वाले त्योहारों से लेकर परिवारों में शादी-ब्याह तक, सभी में कृषि ने बहुत बड़ी भूमिका निभाई है। इसने पारंपरिक कलाओं को आकार देने में अपना प्रभाव डाला है, जिनमें वे कलाएँ भी शामिल हैं जो घरों की दीवारों और फर्शों पर बनाई गई थीं। चित्रकला, नृत्य या फिल्म निर्माण के विभिन्न रूपों में कलात्मक अभिव्यक्ति को हरे-भरे खेतों में ध्वनि का गढ़ मिल गया है। इसने कहानी कहने में, संयुक्त परिवारों को एक साथ रखने में, कार्यभार साझा करने में या जानवरों और वन्यजीवों की देखभाल में अपनी भूमिका निभाई है। गांवों में महिलाओं की भूमिका और सशक्तिकरण काफी हद तक कृषि और विभिन्न धार्मिक और आध्यात्मिक प्रभावों के इर्द-गिर्द घूमती है। कृषि और खेती कभी भी केवल वित्त या अर्थव्यवस्था के बारे में नहीं रही है। गांवों के सामाजिक और सांस्कृतिक पहलुओं में इसकी उभरती उपस्थिति है जो संक्षेप में राष्ट्र की संरचना का निर्माण करता है।

इसके मजबूत सामाजिक और सांस्कृतिक प्रभाव के बावजूद, कृषि के अर्थशास्त्र को नजरअंदाज नहीं किया जा सकता है और न ही इसका अध्ययन और वैज्ञानिक स्वरूप हो सकता है। उर्वरक, कीटनाशक, कीटनाशक कृत्रिम बीज या नई प्रजातियों का परिचय आदि सभी वैज्ञानिक अध्ययन हैं। कृषि में तर्क और समझ, एक प्रक्रिया और पद्धति है। हालांकि इसे अक्सर औद्योगीकरण से कमतर दर्जा दिया जाता है, लेकिन आदर्श रूप से ऐसा नहीं है। यदि किसान को सही तरीके से शिक्षित और निर्देशित किया जाए, तो वह अपनी कला की कुशलता से एक ऐसी प्रणाली बना सकता है जो पर्यावरण, उसके वित्त और अर्थव्यवस्था के समग्र विकास सहित सभी के लिए फायदेमंद हो। लेकिन कृषि क्षेत्र का अर्थशास्त्र सामाजिक स्तरीकरण के साथ भी काफी हद तक जुड़ा हुआ है। वर्ग और जाति ने इस क्षेत्र की वित्तीय गतिशीलता में भी भूमिका निभाई है और इसलिए लंबे समय से अमीर और गरीब किसानों के बीच अंतर गहरा रहा है। आज भी, जब कृषि सुधारों को लेकर बहस इरादे और भावनाओं को जन्म देती है, तो रेखांकित करने वाला सार वही रहता है। ये नीतियां एक बार

फिर पहले से ही हाशिये पर पड़े किसान को और अधिक हाशिए पर धकेल देंगी। कागज पर इनकी व्यवहार्यता या प्रभाव समझ में आ सकता है, लेकिन ज़मीनी हकीकत शायद ही उनसे मेल खाती हो। और शायद यह एक ऐसा तथ्य है जिसे सभी लोग अच्छी तरह से जानते और समझते हैं।

कृषि इस देश का दिल है। यहां के किसान और उनकी मेहनत ही वह कारण है कि हम न केवल इतनी बड़ी आबादी का पेट भरने में सक्षम हैं, बल्कि भोजन और उत्पादों का निर्यात भी कर पाते हैं। यदि व्यावसायीकरण या औद्योगीकरण को वास्तव में सभी के जीवन को बेहतर बनाने की इच्छा के साथ लागू किया जाता है, तो आमतौर पर फल मिलता है। लेकिन जब भावनात्मक और सांस्कृतिक एकीकरण इतना गहरा हो, तो पहले संवाद और बाद में कार्यान्वयन का समान अवसर नियोजित किया जाना चाहिए।

पारिस्थितिकी और सामाजिक संगठन कृषि पद्धतियों और कृषि जीवन के केंद्र में हैं। कृषि और इसकी पारिस्थितिकी में जैसे-जैसे आधुनिक कृषि को बढ़ावा मिलता है, यह स्थानीय सिद्धांतों को विस्थापित करता है और महत्वपूर्ण पारिस्थितिक, सामाजिक और सांस्कृतिक बदलावों की शुरुआत करता है। कृषक सांस्कृतिक टिप्पणियों के माध्यम से इन परिवर्तनों का आकलन और टिप्पणी करते हैं जो क्षेत्र की संस्कृति के पुनर्गठन में आधुनिक कृषि की प्रधानता और मनुष्यों, भूमि के बीजों को जोड़ने वाले लोकाचार की निरंतरता दोनों को इंगित करते हैं।

चित्र 4: खेत में प्रौद्योगिकी

खाद्य और फाइबर के अलावा, सामूहिक वस्तुओं के उत्पादक के रूप में कृषि की बहुक्रियाशील भूमिका और उदारीकरण पर बातचीत के संदर्भ में कृषि क्षेत्र के पुनर्गठन से संबंधित चर्चाएं होती रही हैं। इन सामूहिक वस्तुओं में सांस्कृतिक विरासत, कृषि अभ्यास से जुड़ी हुई है और कृषि गतिविधि से प्रभावित वस्तुओं, साइटों और क्षेत्रों के साथ-साथ कार्य, संसाधन उपयोग और प्रबंधन के अनुभव आधारित ज्ञान को शामिल करती है। कृषि को सांस्कृतिक विरासत को संजोने, और उसकी देखभाल करने वाले, दोनों के रूप में देखा जाता है। हालांकि सांस्कृतिक विरासत के देखभालकर्ता के रूप में कृषि क्षेत्र की जिम्मेदारी पर जोर दिया जाता है। कृषि और सांस्कृतिक विरासत के बीच संबंध सर्वदा विद्यमान रहा है, जैसा कि सार्वजनिक और निजी क्षेत्रों द्वारा अभिव्यक्त किया गया है।

****

मानवता की श्रेष्ठ धरोहर: भारतीय संस्कृति

पार्थसारथि थपलियाल,
B 306, केबीनोज अपार्टमेंट सेक्टर 16
B, निकट रॉयल कोर्ट ग्रेटर नोएडा वेस्ट,
गौतमबुद्ध नगर, उत्तर प्रदेश

संस्कृति किसी समाज के उच्च व्यवहार का प्रकटन है। यह व्यवहार परंपराओं के साथ आगे बढ़ता है। परंपराओं के निर्वहन में कई बार कुल की रीति या रिवाज जन्म ले लेते हैं। जैसे रामचरित मानस के अयोध्या कांड में गोस्वामी तुलसीदास जी ने लिखा, "रघुकुल रीति सदा चली आई। प्राण जाएं पर वचन न जाई।।" संस्कृति का अर्थ है संस्कार युक्त कृति। इसे हम सुधरी हुई स्थिति या व्यवहार भी कह सकते हैं।

राष्ट्र कवि रामधारी सिंह दिनकर ने अपनी पुस्तक 'संस्कृति के चार अध्याय' में संस्कृति के विषय में लिखा है- संस्कृति में किसी भी समाज के रीति-रिवाज, विश्वास, धर्म, कला, विज्ञान, नैतिकता, सामाजिक व्यवस्था, आर्थिक विचार, राजनीतिक विचार, परंपरा और वे सभी तत्व आ जाते हैं जो एक समाज के जीवन में समाहित होते हैं। सार रूप में किसी राष्ट्र, देश अथवा समुदाय के जीवन जीने के ढंग को संस्कृति कहते हैं। वैदिक ज्ञान से प्रेरित भारतीय संस्कृति ने जीवन जीने के दो पहलुओं को ग्राह्य बनाया, उनमें से एक है वैदिक संस्कृति और दूसरी लौकिक संस्कृति। वैदिक संस्कृति में सृष्टि की उत्पत्ति, विकास, पंचतत्व, ईश्वरीय ज्ञान, अध्यात्म, प्रकृति, देवता इत्यादि शामिल हैं। इसमें सृष्टि की उत्पत्ति, ईश्वरीय अवधारणा, चतुर्वेद (ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद), पुरुषार्थ चतुष्टय (चार प्रकार के पुरुषार्थ- धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष), चार आश्रम (ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास) यज्ञ, अध्यात्म, योग और सोलह संस्कारों की महत्ता, इहलोक और परलोक जैसे विषय समाहित हैं। लौकिक संस्कृति में लोक जीवन, लोक ज्ञान, लोक संगीत, नृत्य, कला, लोक संस्कार, खान-पान, परिधान, श्रृंगार, बोली भाषा, लोक व्यवहार आदि शामिल हैं।

भारतीय ज्ञान के प्रमुख स्रोत हैं- वेद, आरण्यक ग्रंथ, ब्राह्मण ग्रंथ, उपनिषद, स्मृति ग्रंथ, पुराण, रामायण और महाभारत। इन ग्रंथों में जितनी भी उच्च चरित्र की बातें पढ़ने में आई, उन्हें मानव ने अपनाया, और इसे ही सनातन धर्म का नाम दिया गया। सनातन धर्म ही हिन्दू धर्म है। महर्षि अरविंद नें इस विषय में अपने विचार प्रकट करते हुए कहा-हिन्दू धर्म शाश्वत और सार्वभौम सत्य है। हिन्दू धर्म ने स्वयं को किसी साम्प्रदायिक सीमा में नही बांधा। उसने

सारे संसार को अपना अनुयायी बनाने का दावा नहीं किया। किसी एक ही सिद्धांत की स्थापना नहीं की, न मुक्ति का कोई एक संकीर्ण द्वार निश्चित किया। वह किसी मत या पंथ की अपेक्षा कहीं अधिक आत्मा के ईश्वरोन्मुख प्रयास की एक सतत विस्तारशील परम्परा थी। जिसे हम हिन्दू धर्म कहते हैं, वह वास्तव में सनातन धर्म है, क्योंकि यह सार्वभौमिक धर्म है जो अन्य सभी को गले लगाता है।"

भारतीय ऋषियों ने सृष्टि उत्पत्ति का आधार ब्रह्म को बताया, जो निराकार, निर्विकार, अजन्मा है। उसी ने एक से अनेक होने का विचार किया। एकोहं बहुस्याम:। यह ब्रह्मांड उसी विचार का प्रतिफल है। उस ब्रह्म को ही हम ईश्वर भी कहते हैं। ईशोपनिषद् में उस ईश्वर के बारे में लिखा है- 'ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किंच जगत्यां जगत्', अर्थात् ईश्वर सृष्टि में सर्वत्र कण-कण में विद्यमान हैं। इसी से ईश्वर के विविध नामों को जानने का क्रम शुरु हुआ। यह केवल वैदिक दर्शन ही बताते हैं कि अपने कालक्रम के अनुसार सभी का अंत होना है।

यहां तक कि सृष्टि का भी। हम भारतीय जिस संस्कृति को लाखों वर्ष पुरानी मानते हैं, उसे पाश्चात्य इतिहासकार और भारतीय वामपंथी इतिहासकार भी पांच हज़ार साल पुरानी मानते हैं। भारतीय संस्कृति में चार युगों में वर्षों की संख्या 43 लाख 20 हज़ार वर्ष बतायी गयी है, जिसमें सृष्टि की आयु 432 करोड़ वर्ष बताई गई है। इसका प्रमाण अथर्ववेद (8/1/21) में वर्णित है- शतं ते युत हायनान द्वे युगे त्रीणि चत्वारि कृण्म अर्थात् दस लाख की गणना के लिए शून्य लिखें, फिर 432 लिखें, यही सृष्टि का काल है (432 0000000 वर्ष)। जिस मानव सभ्यता ने युगों पूर्व ब्रह्मांड के बारे में बहुत पहले लिख दिया था, पृथ्वी सूर्य की और चंद्रमा पृथ्वी की परिक्रमा करते हैं। इसी ज्ञान के माध्यम से 14 लोकों का दर्शन हमें होता है। त्रिलोक में स्वर्गलोक, भूलोक और पाताल लोक हैं। भूलोक से ऊपर 7 लोक हैं- भूलोक, भुवलोक, स्वर्लोक, महालोक, जनलोक, तपोलोक और सत्यलोक। भूलोक से नीचे 7 लोक- अतल, वितल, सतल, तलातल, महातल, रसातल और पाताल। जिस समाज की अपनी प्रांजल भाषा देववाणी संस्कृत हो, जिसे पूर्वकाल में गीर्वाण नाम से जाना गया, उसका उन्नत होना पांच हज़ार वर्षों में कैसे संभव है? सोचने के बात यह भी है कि भारत में विभिन्न दर्शन जो अपने अपने ज्ञान के क्षेत्र में भारतीय संस्कृति को प्रकाशमान बनाये रखते हैं, उन्होंने भी भारतीय संस्कृति को महान दृष्टि दी है। शैव दर्शन, वैष्णव दर्शन, शाक्त, ब्राहस्पत्य, गाणपत्य दर्शन के साथ साथ सांख्य दर्शन, न्याय, वैशेषिक, योग, मीमांसा और वेदांत दर्शन के अलावा, लोकायतन दर्शन भी भारत की देन है। बेहतर जीवन जीने के समस्त उपकरण भारतीय संस्कृति में उपलब्ध है। धर्म केवल सनातन

अथवा मानव धर्म है। इस संसार में अधिकतर लोग मजहब, रिलीजन या पंथ के अनुगामी हैं। ऋषि कणाद जो वैशेषिक दर्शन के प्रवर्तक हैं उन्होंने धर्म की परिभाषा में बताया है 'यतो अभ्युदय निःश्रेयस सिद्धि स धर्मः' अर्थात् जिससे इस लोक में उन्नति हो, और जो परलोक में मोक्षदायक हो वह धर्म है। मनुस्मृति में धर्म के दस लक्षण बताये गए हैं-

धृतिः क्षमा दमोस्तेयं शौचमिन्द्रिय निग्रहः।

धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम्।।

गोस्वामी तुलसीदास कहते हैं-

दया धर्म को मूल है, पाप मूल अभिमान।

तुलसी दया न छोड़िए जब तक घट में प्राण।।

भारतीय दर्शनों में जितनी भी बातें मिलेंगी, उनका सार यह है कि धारण करने योग्य गुण ही तो सदाचार है। इस शब्द में समग्र भारतीय चिंतन छुपा हुआ है।

यही सदाचार, अहिंसा, सत्य, दया, करुणा, दूसरों के लिए त्याग, प्रेम आदि मानवीय गुणों को विकसित करता है जिससे इस लोक में कल्याण और परलोक में मोक्ष की कामना रहती है। सदाचार, जो सात्विक प्रवृतियों का प्रकटन है, वही धर्म है।

आत्मा और परमात्मा को जानने का प्रयास करना, प्रभु स्मरण करना और भक्ति मार्ग पर चल कर ईश्वर का ज्ञान प्राप्त करना अध्यात्म मार्ग है। वेदों में भक्तिमार्ग को आत्मोत्थान का सहज मार्ग बताया गया है। इसके लिए नवधा भक्ति का वर्णन इस प्रकार मिलता है:-

श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम्।

अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम् ।।

अर्थात् श्रवण करना, कीर्तन, स्मरण, अर्चन, वंदन, आत्मनिवेदन, सख्यभाव, दास्यभाव और हर जीव में परमात्मा का भाव स्थापित करना। ईश्वर भक्तिपाप (गलत) कर्म न करना, पुण्य (अच्छे) कार्यों और सत्संग में मन लगाना, ये सभी भक्तियाँ मन को छल कपट से दूर करती हैं। जीवन का अंतिम लक्ष्य मोक्ष प्राप्त करना बताया गया है। भक्ति मार्ग भारतीय संस्कृति में अध्यात्म में प्रवृत्त होने का द्वार है। इसी बात को गोस्वामी तुलसीदास जी ने इन शब्दों में कहा-

परहित सरिस धर्म नही भाई,

परपीड़ा सम नहिं अधमाई।

धर्म के माध्यम से व्यक्ति मोक्ष की प्राप्ति या पुनर्जन्म के बंधन से मुक्त होने के लिए सद्कार्य करता है। देवता शब्द सनातन संस्कृति में वैदिक काल से हैं। देव शब्द दिव् धातु से बना है, जिसका अर्थ है प्रकाश। ज्ञान ही तो प्रकाश है। इसका एक अर्थ है, जिसमें देने की क्षमता है।

उत्तर वैदिक काल में- ब्रह्मा, विष्णु, महेश आदि देवताओं का उल्लेख मिलता है। अलग-अलग ग्रंथों में देवताओं का विवरण भिन्न-भिन्न मिलता है। समाज के व्यवहार में तो यह देखा गया कि जो हितैषी है वह देवता है। भारत में कुछ लोगों ने एक और भ्रम फैलाया हुआ है कि भारत में 33 करोड़ देवता हैं। 33 कोटि का अर्थ है 33 प्रकार के देवता। इनका विवरण है- 12 आदित्य, 8 वसु, 11 रुद्र और 2 अश्वनी कुमार।

भगवान- ऐश्वर्य, धर्म, लक्ष्मी, ज्ञान, और वैराग्य, इन छः गुणों को भग कहते हैं। भग से युक्त जो है वह भगवान है। इसलिए हमारी आस्थाएं देवताओं और भगवानों के प्रति सांस्कृतिक हैं।

सनातन संस्कृति की अनेक विशेषताएं हैं। इनमें लोक मंगल की भावना समस्त लोकों के लिए है। जैसे-

स्वस्तिप्रजाभ्य परिपालयतां

न्यायेन मार्गेण महीं महीशा।

गोब्राह्मणेभ्य शुभमस्तु नित्यं

लोका समस्ता सुखिनो भवन्तु।।

प्रत्येक अनुष्ठान में कामना के स्वर उभरते हैं-

धर्म की जय हो, अधर्म का नाश हो, प्राणियों में सद्भावना हो, विश्व का कल्याण हो। यह भावना किसी धर्म, मजहब में देखने सुनने को नही मिलती।

सर्वभूतहितेरता - चाहे कोई भी जीव है, उसके हित या कल्याण के बारे में चिंतन करना, चिंतन को व्यवहार में लाना। यह शिक्षा सभी धार्मिक आयोजनों में उद्घोष के रूप में कही जाती है। इसीलिए -

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामया:

सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चित् दुःख भाग भवेत्।।

विश्व-बंधुत्व की भावना- दुनिया में कहीं भी कोई रह रहा है, उसके बारे में बुरे विचार न रखना, बल्कि उसे अपना बंधु-बांधव मानना। जैसे कि सूक्ति भी है-

अयं निजरू परोवेति गणना लघु चेतसाम्।

उदार चरितानांतु बसुधैव कुटुम्बकम्।।

प्रकृति और पर्यावरण की रक्षा--

देवान् भावयतानेन ते देवा भावयन्तु व।

परस्परं भावयन्त श्रेयरू परम् अवाप्स्यथ।।

(गीता अध्याय 3, श्लोक 11)

पृथ्वी, जल, वायु, आकाश, अग्नि,वनस्पति आदि जीवन के आधार स्तंभ हैं। इनके बिना जीवन संभव नहीं। हमारी संस्कृति में इन्हें देवता माना गया है। सृष्टि में पांच तत्वों का संतुलन बनाए रखने के लिए आवश्यक है कि हमारा लोक व्यवहार प्रकृति के अनुरूप हो। इसलिए प्रकृति का सम्मान करो और पर्यावरण को

प्रदूषण से मुक्त रखो। यही कारण है कि सनातन संस्कृति में वनस्पतियों, पेड़ पौधों को धार्मिकता के साथ जोड़ा गया है। तुलसी, पीपल, आम, बरगद, चंदन आदि अनेक पेड़-पौधे भारतीय संस्कृति के नित्यकर्म के साथ जुड़े हुए हैं।

यह भारतीय संस्कृति की एक बड़ी विशेषता है। धैर्य से बातों को सुनना, जानना, मनन करना, अपनी बात कहते हुए उग्र न होना, हिंसा न करना। भारतीय संस्कृति चरित्र की शुद्धता पर बल देती है सहिष्णुता। इसलिए कोई भी आचरण और व्यवहार नैतिकता पूर्ण होना चाहिए। व्यक्ति यदि गिरे हुए चरित्र का हो तो वह मान प्रतिष्ठा के योग्य नही रहता। गीता में लिखा है-

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तदेवेतरो जनः।

स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते।।

(गीता 3/21)

अर्थात् जैसा जैसा आचरण श्रेष्ठ अथवा बड़े लोग करते हैं, शेष लोग भी उन्ही के समान आचरण करते हैं। श्रेष्ठ लोग अपने आचरण का जैसा प्रमाण रखते हैं, लोग उनके अनुसार ही व्यवहार करते हैं। परिवार भारतीय समाज की पहचान है। अब इसमें काफी अन्तर आ रहा है। मातृदेवो भव, पितृदेवो भव, आचार्यदेवो भव जैसे संस्कार समाज में व्याप्त थे। पहले 2-3 पीढ़ी तक एक ही पारिवारिक सत्ता में घर के लोग रहते थे। एक दूसरे के साथ प्यार से जीते थे। महिलाओं, बच्चों और वृद्धों का बड़ा मान था। अब यह विशेषता दुष्प्रभावित हो चुकी है। संयुक्त परिवार में सबका लालन पालन बेहतर ढंग से होता था। आज बड़े बुजुर्गों को अनुपयोगी वस्तुओं के तौर पर देखा जा रहा है। भारत में वृद्धाश्रमों की संख्या बढ़ती जा रही है। यह दुखद स्थिति है।

भारत में जब मुसलमान, ईसाई, यहूदी, पारसी या अन्य कोई भी धर्म वाले आये, उन्हें भारतीय समाज ने उदारता से स्वीकार किया। उन्हें पूर्ण धार्मिक आज़ादी के साथ जीने दिया। विभिन्न धर्मों के मध्य समन्वय स्थापित करना भारतीय संस्कृति की विशेषता रही, जबकि बाह्य धर्मावलंबियों ने तलवार, बन्दूक, लोभ लालच और छद्म रूप से भारतीयों का धर्मांतरण किया। भारत को गुलाम बना दिया। यह कार्य अभी भी धार्मिक स्वतंत्रता के नाम पर हो रहा है, जो छद्म राजनीति का हिस्सा है।

भारत में ऋषि मुनियों ने स्वयं के बारे में खोज की। मैं कौन हूं ? कहां से आया हूं ? मैं कहां जाऊंगा ? सृष्टि का कर्ता कौन है ? वह कहां है ? क्या करता है ? मृत्यु क्यों होती है ? मृत्यु के बाद क्या होता है? आत्मा और परमात्मा का क्या संबंध है ?

आदिगुरु शंकराचार्य ने जिसे सूत्र रूप में कहा वह ब्रह्म जिज्ञासा अध्यात्म की पहली सीढ़ी है। इस संदर्भ में आदिगुरु शंकराचार्य ने उद्घोष किया- अहम् ब्रह्मास्मि तत्वमसि।। ब्रह्म सत्यं

जगदमिथ्या आदि। उस ब्रह्म की खोज करने की प्रक्रिया का नाम ही अध्यात्म है। अध्यात्म के साथ ही योग भी भारत की विश्व को बड़ी देन है। योग के विषय में लोगों में चेतना बढ़ी है।

नव विवाहित लोग अब बड़े बुजुर्गों के साथ रहना पसंद नही करते। पहली बात तो यह है कि जीवन निर्माण में इतना समय लगा देते हैं कि उचित समय पर युवा विवाह नही कर पा रहे। परिपक्व होने पर दोनों की एक दूसरे को समझने की अवस्था जा चुकी होती है। आजकल देर से होने वाले विवाह संबंधों में संबंध विच्छेद की प्रवृति अधिक बढ़ रही है।

निजता और स्वच्छंदता का स्पेस पाने की वृत्ति ने बड़े बुजुर्गों को वृद्धाश्रम का रास्ता बता दिया है। एकल संतान के प्रचलन ने बहुत से संबंधों की परिभाषा ही खत्म कर दी। भविष्य में ताऊ, चाचा, बुआ, मौसी, दीदी जैसे संबंधों के अपनत्व को कैसे प्रकट किया जाएगा। यह सब गंभीरता से सोचने की बात है।

पहले पत्रकारिता के माध्यम से पाठक दुनिया को जानते थे, जिसमें प्रकाशित सामग्री में नैतिकता का भी ध्यान रखा जाता था। नई आर्थिक नीतियों के दौर में गलाकाट प्रतियोगिता का इस ओर ध्यान नहीं जाता है। इस सुसंस्कृत देश में अपसंस्कृति को बढ़ावा देने वाले धारावाहिक एक बहुत बड़े बाजार का हिस्सा हैं। ओटीटी प्लेटफॉर्म पर दिखाई जा रही धारावाहिक फिल्में सेंसर बोर्ड के दायरे में नही हैं। वे धन कमाने के लिए कुछ भी दिखा सकते हैं। यही तो अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता है।

बाज़ार का अभाव होना व भौतिकतावादी संस्कृति पहले के बाज़ार व्यक्ति की आवश्यकताएं पूरी करते थे। बाजार खत्म होते जा रहे हैं। अब बाज़ार अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए उपभोक्ताओं को फंसाता है। अनेक बहुराष्ट्रीय कंपनियाँ मॉल के जरिये अपने ग्राहकों को रिझा रहे हैं। बड़े आकर्षक विज्ञापनों, होर्डिंग, स्कीम देकर लुभा रहे हैं। फैशन के नाम पर अपसंस्कृति को बढ़ा रहे हैं।

भारतीय संस्कृति पाश्चात्य बनती जा रही हैं। जिन व्यवहारों को भारतीय समाज कुछ समय पूर्व तक अपसंस्कृति मानता था, वही अब स्वीकार्य हैं। विज्ञापनों ने गर्ल फ्रेंड, बॉय फ्रेंड का एक पाश्चात्य कल्चर भारत में शुरु कर दिया है। विवाह पूर्व संबंध आम होने लगे हैं। क्या यह भारतीय संस्कृति के लिए चुनौती नही है?

सनातन संस्कृति में समाज को संस्कारित करने के लिए संस्कारों का बड़ा महत्व रहा है। बड़ों के चरण स्पर्श करना, बड़ों से विनम्रता से बात करना, माता पिता और गुरु की आज्ञा का पालन करना, पर नारी को माता और बहन के समान मान देना, अतिथि सत्कार करना, भूखे प्यासे को भोजन पानी देना, बाल और वृद्ध का विशेष ध्यान रखना हमारे समाज में सहज और

सामान्य परंपरा रही है। 16 संस्कार भी इसी भारतीय समाज में रहे हैं जिनसे समाज नैतिकता के मार्ग पर चलता था।

16 संस्कार- पुंसवन, सीमंतोनयन जातकर्म, निष्क्रमण अन्नप्राशन, चूड़ाकर्म (मुंडन संस्कार), विद्यारम्भ,, कर्ण वेधन, वेदारम्भ, केशान्त, समावर्तन, विवाह संस्कार और अंत्येष्टि। जीवन को सुसंस्कारित रखने के लिए समाज में ये सभी परंपराएं सनातन समाज में थी। लोग सत्यनिष्ठ थे। करुणा, त्याग और मानवता लोगों में कूट कूट कर भरी हुई थी। अब सभी के हाथ में मोबाइल है।

वर्तमान काल में संसार में बाजारवाद इतना अधिक फैल गया है कि मानवीय मूल्यों की चिंता किसी को नहीं। जिस संस्कृति को विस्तार देना चाहिए था, उसे हमनें अधिकतर अनदेखा कर दिया है। जो लोग देख रहे हैं, उन्होंने उसे बेचना शुरु कर दिया है। विज्ञापनों में महिलाओं को जिन स्वरूपों में प्रदर्शित किया जा रहा है अथवा विभिन्न कार्यक्रमों में जो फूहड़ता परोसी जा रही है, वह भारतीय तो नही। भारतीय संस्कृति मानव संस्कृति है। इसका कोई राजनीतिक ध्येय नही है।

यह एक ओर समन्वयवादी है तो दूसरी ओर मुक्ति का द्वार भी खोलती है। यह विश्व धरोहर के रूप में अंगीकार रहे, ऐसी कामना है।

उमर की ऐसी-तैसी

(भारत रत्न अटल बिहारी बाजपेई)

घर चाहे कैसा भी हो .....

उसके एक कोने में .....

खुलकर हँसने की जगह रखना .....

सूरज कितना भी दूर हो .....

उसको घर आने का रास्ता देना .....

कभी छत पर चढ़कर .....

तारे अवश्य गिनना .....

हो सके तो हाथ बढ़ाकर .....

चाँद को छूने की कोशिश करना .....

अगर लोगों से मिलना जुलना .....

तो घर के पास पड़ोस जरूर रखना .....

भीगने देना बारिश में .....

उछल-कूद भी करने देना .....

हो सके तो बच्चों को .....

कागज की किश्ती चलाने देना। .....

****

भारतीय ज्ञान परम्परा : प्रारूप एवं भविष्य
(निज व्यक्तित्व की तलाश)

डॉ. चन्द्रकांत तिवारी
असिस्टेंट प्रोफेसर – हिंदी
राजकीय स्नातकोत्तर महाविद्यालय
थलीसैंण, पौड़ी, गढ़वाल

ज्ञान परंपरा की वैचारिकी की मूलभूत संरचना की विचारधारा, परंपरा, आधुनिकता, नैतिकता, धर्म, संस्कृति, सभ्यता, संस्कार, जीवन-जगत की सभी कोटियों से समाहित होता और व्यावहारिक संवेदना का प्रकृतिवादी, मनोवैज्ञानिक, अनुभवजनित, अभ्यासरत परिणाम है। नकारात्मक ऊर्जा से सकारात्मक परिणाम का प्रभाव भी ज्ञान परंपरा को दिशा-निर्देश एवं शक्ति जारी करता है। सकारात्मक दृष्टिकोण से नकारात्मक ऊर्जा का विलोपन भी ज्ञान परंपरा की विरासत शक्ति का ही परिणाम है।

सृजनशीलता और नवीनता ज्ञान परंपरा के आधार स्तंभ हैं। जीवन के यथार्थ दृश्यों को हम किस रूप में देखते हैं, किस रूप में महसूस करते हैं, महसूस करने के बाद क्या हम उन साक्षात दृश्यों/वस्तुओं से अपनेपन का लगाव रख पाते हैं? ऐसा लगाव जो हमें बार-बार अपनी ओर आकर्षित करता हो। हमारे मन की रिक्तता को पूर्ण करता हो। हमारे जीवन के अवकाश को इंद्रधनुषी रंगों से भर देता हो। हमारी विषम और कठिन बनती जा रही जीवनशैली को सरल और सहज बना देता हो। हमारी कम पड़ती श्वांसों के मध्य रक्त का संचार करता हुआ जीवन की लालिमा के नए दृश्यों को उभरता हो। यह संभव है कि हम अंतिम स्पंदन तक स्वयं से ही संघर्ष कर रहे होते हैं, परंतु जो प्रकृति हमने अपने लिए निर्मित की है, वह एक ऐसी दुनिया है जो दो सगे-संबंधियों के अकेलेपन से भरी हुई है। जैसे जीवन का संगीत रिक्त हो गया है जीवन की तलाश में भटकता हुआ कवि हृदय शून्य की परिधि पर घूम रहा हो। स्वयं के प्रश्नों में ही उत्तर को तलाश कर रहा हो। कवि हृदय कई सौ हृदयों का समुच्चय है। उसकी अभिव्यंजना और अभिव्यक्ति से पहले उसकी देखने की शक्ति स्पर्श और गंध के अनुभवों का साक्षात् बिंब होती है। हवाओं में तैरता हुआ संगीत कवि की सांसों में घुल-मिल कर साकार हो जाता है। यह सब एकांत की वीणा से निकला हुआ नादमय संगीत है। जीवन का वास्तविक जयघोष है। यही गुरु परंपरा की लोक संस्कृति का उत्थान मंच है। यही गुरुत्व शक्तियों की गतिविधियों का आत्मिक दर्शन जो व्यष्टि से समष्टि और समष्टि से व्यष्टि एवं मानवता की जन्मभूमि की विकास यात्रा का अंतिम और प्रारंभिक प्रस्थान बिंदु है।

इतिहास गवाह है साहित्य ने भौगोलिक एवं प्राकृतिक परिवेश से नया जीवन दर्शन प्राप्त किया है और मनुष्य ने अपनी प्रज्ञा के बल पर अंतरिक्ष में अन्वेषक को नया आयाम दिया है। ज्ञान दर्पण के बल पर गूंगे को जुबान, अज्ञान को ज्ञान, अनैतिक को नैतिकता, परंपरा को आधुनिकता के कलेवर में लिपटा हुआ यथार्थ चरित्र दिया है। जिसकी सीमाएं अनंत है। जो अंतरिक्ष के अपार बिंदुओं को भी स्पर्श कर लेता है। भविष्य के गर्भ से यथार्थ के पुष्प खिलाने की क्षमता रखता है। नैतिकता के आवरण में लिपटा हुआ भारतीय चरित्र सनातन संस्कृति का जयघोष प्रभु श्रीराम की अनंत विरासत का ज्योतिपुंज स्वयं अपने ही ज्ञान दर्पण के प्रारूप में भविष्य के सपने देखने वाला प्रत्येक भारतवासी के ज्ञान की पाठशाला का नैतिक चरित्र, अपनी परंपरा में राष्ट्र की यश गाथा का नाम है। कहने को भारत है। रहने को भारत है। यश और कीर्ति की सोने की चिड़िया और देश और विदेश में अपनी ज्ञान परंपरा से विश्व गुरु का कीर्ति स्तंभ भी है।

भारत अपने चरित्र से संपूर्ण विश्व का आदर्श बिंदु है। अपनी ज्ञान परंपराओं से संपूर्ण विश्व का पथ प्रदर्शक है। अपने नैतिक आचरण से विश्व की आंख का तारा है। अपने कट्टर शत्रु पाकिस्तान का भी प्यारा है। इसका रज-रज प्रत्येक भारतवासी को न्यारा है। इसीलिए कहते हैं कि अखंड भारत हमारा है। भारतीय ज्ञान परंपरा भारत की मिट्टी में रची बसी है इसका विशाल चरित्र इसकी मिट्टी में समाया है। यहां का जनमानस मिट्टी से भी संवेदनात्मक रिश्ता बनता है। इसीलिए भारत विविधताओं से भरा है। विभिन्न संस्कृतियों की परंपराओं का ऐसा प्रारुप है जो अपनी प्रज्ञा की ज्ञानमाला को वैश्विक क्षितिज पर आधुनिकता और नवीनता के विविध आयामों को लेकर अजस्र बुद्धिमत्ता का जयघोष स्थापित कर रहा है।

भारत में ऐसे कई ऐतिहासिक एवं सांस्कृतिक स्थल हैं जो भारतीय ज्ञान परंपरा के आदि केंद्र हैं। यहां सामाजिक, सांस्कृतिक एवं धार्मिक इतिहास से जुड़े कई महत्वपूर्ण स्थल भारत की विरासत का हिस्सा हैं। जिनमें नालंदा, राजगीर, बोधगया और वैशाली नगर और गौतम बुद्ध से जुड़े स्थल हैं। वही अन्य स्थलों में कुरुक्षेत्र, मथुरा, वाराणसी, प्रयाग, हरिद्वार, सारनाथ, अयोध्या, खजुराहों, साँची, अजन्ता और एलोरा, पुरी आदि भारत के पुरा ऐतिहासिक स्थल हमारी विरासत की धरोहर हैं एवं प्राचीन ज्ञान परंपराओं की भारतीयता का दैदीप्यमान ज्योतिपुंज - सा जयघोष भी। भारतीय ज्ञान परंपरा के धार्मिक केंद्रों में उत्तराखंड राज्य का विशेष महत्व है। यहां आने वाले श्रद्धालु भारतीय संस्कृति का हिस्सा हैं।

भारत की सांस्कृतिक विरासत की पृष्ठभूमि बहु-आयामी और बहु-भाषी है जिसमें

भारत का महान इतिहास, विलक्षणता से परिपूर्ण भूगोल और आविष्कारों से भरा है। मानवीय सरोकारों का प्रामाणिक दस्तावेज सिन्धु घाटी की सभ्यता के दौरान बनी और आगे चलकर वैदिक युग में विकसित हुई बौद्ध धर्म एवं स्वर्ण युग की शुरुआत और उसके सूर्यास्तगमन के साथ-साथ फली-फूली और खुद पल्लवित-पुष्पित हुई। इसके साथ ही पड़ोसी देशों के रीति-रिवाज़, परम्पराओं और विचारों का भी इसमें समावेश मिलता है। पिछली पाँच सहस्राब्दियों से अधिक समय से भारत के रीति-रिवाज़, भाषाएँ, प्रथाएँ और परम्पराएँ इसके एक-दूसरे से परस्पर सम्बंधों में महान विविधताओं का एक अद्वितीय उदाहरण देती आ रही हैं।

ज्ञान का प्रारंभिक द्वार और प्रथम केंद्र है वाणी। वाणी का प्राथमिक अनुशासनात्मक व्यवहार है व्याकरण। ज्ञान की इसी परंपरा में पाणिनि ने दुनिया का पहला व्याकरण लिखा है। यास्क द्वारा भाषा के अनुशासनात्मकता पर निरुक्त लिखा गया है। पतंजलि ने योगसूत्र व भाषा अनुशासन लिखा है। योग विज्ञान वैज्ञानिक है एवं वैश्विक है। कौटिल्य का अर्थशास्त्र वैश्विक है। आचार्य वात्स्यायन का कामसूत्र, भरतमुनि का नाट्यशास्त्र तो इसी ज्ञान परंपरा में चरक और सुश्रुत संहिताएं आयुर्विज्ञान के रूप में प्रतिष्ठित एवं वैश्विक हैं। प्राचीन भारत ने दर्शन, ध्वन्यात्मक भाषा विज्ञान, अनुष्ठान, व्याकरण, खगोल विज्ञान, अर्थशास्त्र, सांख्य दर्शन सिद्धांत, तर्क़ दर्शन, जीवन दर्शन, आयुर्वेदिक चिकित्सा, ज्योतिषीय ज्ञान एवं संगीत शास्त्र विभिन्न विषयों को लेकर ज्ञान और परंपरा की खोज में शोधार्थियों एवं तत्व चिंतन करने वाले साधकों ने असाध्यवीणा को साधने में अपना संपूर्ण जीवन लगा दिया। सुखी मानवीय जीवन यात्रा की विरासत को अपनाने के लिए, तत्त्व चिंतन करने वाले विद्वानों द्वारा अनुसंधान किए गए। अणु बम से लेकर परमाणु बम तक शिक्षा, चिकित्सा और कृषि में नए-नए प्रयोग एवं नए-नए आविष्कार किए गए। प्राचीन सभ्यता एवं गुरुकुल परंपरा द्वारा मिलने वाला ज्ञान आज प्रायोगिक रूप में मशीनीकरण के द्वारा प्राप्त किया जाने लगा। प्राचीन काल से मध्य हिमालय की विरासत की परिधि में बैठकर वर्षो ऋषि-मुनियों द्वारा तपस्या की गई। तब जाकर मानव सभ्यता की विकास यात्रा का प्रारंभ, ज्ञान की चिंतन धाराओं का अजस्र स्रोत, हिमालय से बहने वाली नदी की धाराओं के समान जनमानस के हृदय को भीगोता हुआ मानव कल्याण की दिशा में अग्रसर हुआ।

प्राचीन ग्रंथों में ही जीवन का नवीनतम अभिनव प्रयोग है। बढ़ती मानवीय सभ्यता और विस्तृत होता आधुनिक जनमानस इस बात की अपेक्षा रखता है कि युगों-युगों से प्राचीन परंपराओं का ज्ञान-विज्ञान आज के प्रत्येक व्यक्ति की जीवन शैली के लिए, उसके रहन-सहन और उसके व्यावहारिक पक्ष के लिए, सामाजिक

आचरण के साथ-साथ धार्मिक एवं सांस्कृतिक परंपराओं से जोड़ते हुए मानवीय सभ्यता के आत्मिक मिलन और नैतिक आचरण के लिए अत्यंत आवश्यक है।

वेदों में जीवन रस है। आनंद की विकास यात्रा का अमृत कलश है। वेद इस बात के प्रमाण हैं कि नियति और परंपरा के बीच ज्ञान-विज्ञान अपना क्या महत्व रखता है? विज्ञान ज्ञान से किस प्रकार भिन्न है? चरित्र नैतिकता से किस प्रकार जुडा हुआ है? दृष्टि किस प्रकार से सृष्टि से जुड़ी हुई है? व्यष्टि किस प्रकार से समष्टि से जुड़ी हुई है? साधारण व्यक्तित्व असाधारण कैसे बन जाता है? विशेष व्यक्ति सामान्य भाव भूमि पर कैसे अवतरित होता है ? लोक रंजक और लोकप्रिय कैसे बन जाता है? कैसे सबके हृदय का कंठहार बनते हुऐ सबकी आंखों का नेत्र बिंदु बन जाता है? यह चिंता से आनंद की विकास यात्रा का प्रतिफल है। वेदों, उपनिषदों में जीवन रस है और वेदांग में जीवन का सार।

अपने निजी चरित्र से व्यक्तित्व तब उठता है जब अपने संस्कारों से अपनी ही संस्कृति के गले में सभ्यता का निष्कलंक हार चढ़ाता है। सभ्यताओं ने संस्कृति को हमेशा ही आदर दिया है। सत्कार किया है। संस्कृति के नैतिक चरित्र को मनोबल दिया है, तो वहीं दूसरी ओर संस्कृति ने सभ्यता को हृदय मंदिर में निवास दिया और संस्कार पर्वत की ओर अग्रसारित करते हुए विस्तृत हिमालय के श्वेत मस्तक को सूर्य की किरणों से सुशोभित कर मानव सभ्यता को उठना सिखाया है। यही भारतीय ज्ञान परंपरा की विरासत है। यही प्रज्ञा की योग समाधि। जनमानस की चिंता का प्रतिफल और ऋषि मुनियों की तपस्या का आध्यात्मिक अंश भी। जिसने स्वभाविक चिंतन परंपरा को प्रकृति के नैसर्गिक परिवेश के मध्य में जीवंत रखते हुए मानवीय संबंधों की कांवड़ यात्रा को स्थापित किया। दीपों के त्योहार और रंगों के उत्सव को, रक्षा के धागों को, नदी घाटों, तटों और सूरज, चाँद की उपासना पद्धति को, हृदय मंदिर में स्थान दिया। पत्थर में भगवान के दर्शन, बहते पानी को गंगा माँ की संज्ञा देकर मनुष्य के नैतिक आचरण को भारतीयता के रंग में भिगो दिया है। यह भारतीय ज्ञान परंपरा का विस्तार है। अतीत के काल खंडों से सौभाग्य का ज्ञान कुंज है। जिसके लिए विदेशी व्यक्ति भी भारत भूमि में जन्म लेना अपना सौभाग्य समझता है। ऐसे भारत को विभिन्न नामों से जम्बूद्वीप, भारतखण्ड, हिमवर्ष, अजनाभवर्ष, भारतवर्ष, आर्यावर्त, हिन्द, हिन्दुस्तान और इंडिया समय-समय पर कहते हुए यहां के लोकमानस द्वारा हृदय में स्थान दिया गया। विभिन्न जातियों का मेल, विभिन्न संप्रदायों का मेल, ज्ञान की सीमा से परे, अपनत्व की भावना में समाया हुआ, एक ऐसा आत्मिक सागर बन गया जिसके उच्च शिखर पर ज्ञान परंपरा अपना विजयोत्सव एवं विजय पताका

फहरा रही है। भारतीय ज्ञान परंपरा का यही अमर संगीत है।

भारत में ऋग्वेद लोक मंगल हितैषी ज्ञान परंपरा है। ज्ञान हिमालय-सा पवित्र विषय रहा है। ज्ञान सभी रहस्यों का उद्घाटन करता है। अंधेरे को चीरने के समान ज्ञान अपनी परंपरा का निर्वहन करता आया है। अपनी निजता की आहुति का अंशदान करता है। ज्ञान से धर्म-कर्म की रक्षा होती है।

मनुष्य अपने भीतर के अहं साधता है। ज्ञान से ही अर्थ, काम और मोक्ष का त्रिकोण मिलता हैं। पाणिनी, पतंजलि, कौटिल्य, वात्स्यायन, भरत मुनि, चरक, सुश्रुत, आर्यभट्ट, वराह मिहिर आदि सभी विद्वान अपने पूर्ववर्ती आचार्यों का उल्लेख करते हैं। भारतीय अखंड ज्ञान परंपरा का परिचय देते हुए उसके प्राथमिक प्रारूप को निर्मित करते हैं।

भारत की सर्वोच्च शैक्षणिक संस्थाओं द्वारा जैसे यू.जी.सी. ने नई शिक्षा नीति के अनुसरण को अपनाते हुए भारत की ज्ञान परंपरा को छात्र-छात्राओं, अध्यापकों के लिए मार्गदर्शी बताया है। चरित्र के निर्माण में सहायक एवं नैतिक आदर्श का केंद्र बताया है। भारतीय चिंतन शिविर को भारतीय सनातन संस्कृति एवं ज्ञान परंपरा के मूल से जोड़ने का कार्यक्रम बनाया है। ज्ञान का लक्ष्य केवल सूचना उपलब्ध कराना नहीं है अपितु ज्ञान, विज्ञान और दर्शन, इच्छा, भाव और कर्म सभी मिलजुल कर विश्व कल्याण की मंगल कामनाओं का सार्वभौमिक हित निर्मित कर रहे होते हैं।

वैदिक कालीन ज्ञान दर्शन-परंपरा मानवीय जीवन का स्वर्णिम उदय काल है। उत्साह, जिज्ञासा, जिजीविषा, जीवन का यथार्थ प्रश्नपत्र है। ऐसे प्रश्नपत्र के उत्तर लिखने के लिए मन-मस्तिक सदा चिंतनशील और तर्कशील बना रहे, इसके लिए निज व्यक्तित्व को सदा ज्ञान की विभिन्न कोटियों से परिष्कृत करते रहना ही अपनी सनातन धर्म संस्कृति का उचित निर्वहन करना है। ज्ञान की प्राप्ति के लिए व्यावहारिक और मनोवैज्ञानिक अनुभव तो संचारी भाव के समान हैं। परंतु जीवन की वास्तविक प्रज्ञा तो स्थायी भाव के रूप में रहस्यमयी स्थिति में रसमय होकर अनुभूति की अभिव्यक्ति और अभिव्यक्ति की अनुभूति स्वतः ही दिलाता रहता है। जीवन-जगत की स्थितियां तो उद्दीपन के रूप में अपना नैसर्गिक दृश्य बदलती रहती हैं। भारतीय ज्ञान परंपरा का वैचारिक ढांचा रस की मूलभूत निजता का मनोवैज्ञानिक आधार है। जिसका केंद्र मस्तिक से होकर स्नायु तंत्र तक लघु सरिता की तरह जीवन सरिता के विस्तृत आयाम पर बहता हुआ दिशा तय करता है। जिसका प्रकृति प्रदत्त एक आधार है। वह निराधार कैसे हो सकता है। ज्ञान की वास्तविक परंपरा और प्रारूप मनुष्य हृदय में विराजमान है। वह तो सहृदय की अभिव्यक्ति है। कवि हृदय की

अनुभूति है। लोकमानस की विचारधारा है। और कह सकते हैं कि यह सभी सशक्त ज्ञान के उपकरण मात्र हैं। ज्ञान दर्शन की वैश्विक परंपरा ऋग्वेद सहित समस्त वैदिक संहिताओं, ग्रंथों में विश्व की पहली ज्ञान परंपरा का पोर्टफोलियो है।

भारतीय ज्ञान परंपरा में गुरुकुल शिक्षा के प्रमुख आधार केंद्र थे। शिक्षार्थी अठारह विद्याओं – छः वेदांग, चार वेद (ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद), चार उपवेद (आयुर्वेद, धनुर्वेद, गन्धर्व वेद, शिल्पवेद), मीमांसा, न्याय, पुराण तथा धर्मशास्त्र का अर्जन गुरु के निर्देशन में ब्रह्मचर्य का पालन करते हुए अनुष्ठानपूर्वक अभ्यास कर अध्ययन करते थे। प्रशिक्षणार्थियों एवं विद्यार्थियों को ऐसे अध्ययन से मिलने वाला ज्ञान आजीविका निर्वहन के साथ-साथ कौशल विकास एवं व्यक्तित्व विकास में सहायक बना और इन ग्रंथों के अध्ययन से नेतृत्व कौशल विकसित हुआ। भारतीय ज्ञान परंपरा का देश-विदेशों में प्रचार-प्रसार हुआ। त्याग, तपस्या, निज व्यक्तित्व की समाधि से निकलने वाला जीवन रस अमृत की बूंदों के समान गुरु ज्ञान की परंपरा का आधार बना। धन लोभ से परे वृत्तिसम्पन्न तथा धन की तृष्णा रूपी नैसर्गिक प्रवृत्ति से परे आचार्य एवं कुलगुरू ही शैक्षिक भारतीय ज्ञान परंपरा पद्धति में शिक्षक माना गया है।

भाषा के लिखित रूप, जिसमें शिक्षा, चिकित्सा और कृषि क्षेत्र भी शामिल है, पर आधारित ग्रंथ हमें विरासत के रूप में प्राप्त हुए हैं। पुरातनपंथी यह ज्ञान परंपरा मनुष्य का मार्ग निर्देशन कर रही है। अप्रतिम, अमूल्य, अनवरत, अक्षुण्ण भारतीय ज्ञान परंपरा में वेद ग्रंथों को, पुराण ग्रंथों को अप्रतिम माना गया है।

प्राचीन काल में गीत, संगीत, चित्रकला और स्थापत्य सहित सभी ज्ञान-विज्ञान के अनुशासनात्मक क्रियाकलाप आधुनिक परिवेश के लिए एक प्रारूप का निर्माण करते हैं। कमोबेश यह देखने में आया है कि काल परिस्थितियों के यथार्थवादी प्रवाह में यह ज्ञान परंपरा अपनी वास्तविक जड़ों से टूट-सी गई हैं। कहीं ना कहीं एक सनातन पद्धति में कुछ बिखराव सा आ रहा है। जिसे आज शोधात्मक दृष्टि से देखने की आवश्यकता है। व्यवहारिक जीवन में धारण करने की महत्वपूर्ण उपादेयता भी सनातन ज्ञान परंपरा की शक्ति को बचाए रख सकती हैं।

ऋग्वेद संपूर्ण कलाओं से भरा पड़ा है। संगीत की कला में सामवेद उत्कृष्ट कोटि का है। यजुर्वेद में सौंदर्यपूर्ण छंदों का अप्रतिम विधान निर्मित है। अथर्ववेद तो पूरा सांसारिक गतिविधियों का गठजोड़ है। भारत में सौंदर्य शास्त्र की हजारों वर्ष पुरानी ज्ञान परंपरा है। भारतीय ज्ञान परंपरा अद्वितीय ज्ञान और प्रज्ञा का प्रतीक है जिसमें ज्ञान और विज्ञान, लौकिक और पारलौकिक, कर्म और धर्म तथा भोग और त्याग का अद्भुत समन्वय है। यही हमारी ज्ञान

परंपरा का मूलभूत और स्थायी प्रारूप है। जिसमें भविष्य के सुनहरे, विविध आयामी दृष्टिकोण व्याप्त हैं। यह तो हम मानवों की नैसर्गिक प्रवृत्ति है कि हम कहां से कितना ज्ञान प्राप्त करते हैं। प्राचीन का कितना अनुसरण हम अपने नवीन जीवन में धारण करते हैं। यह देश गुरु परंपरा का देश रहा है। यहां प्राणों से बढ़कर रक्त का मूल्य चुकाया जाता है। भारतीय ज्ञान पद्धति, वैश्विक परंपरा की परिधि की विशाल जीवन यात्रा है। कल, आज और कल इसका प्रारूप और भविष्य यहां की मिट्टी और भौगोलिक परिवेश यहां की संस्कृति और यहां के धार्मिक आचरण में दिखता है।

भारतीय चिंतन परंपरा को ढूंढने के लिए किसी पद एवं प्रतिष्ठा की कोई अभिलाषा नहीं होनी चाहिए। अगर उस चिंतन परंपरा को यथार्थ के धरातल पर ढूंढना है तो व्यक्ति एवं मानव सभ्यता को स्वयं के भीतर अपने ईश्वर को तलाश करना होगा। वह किसी रण क्षेत्र में नहीं मिलेगा और न हीं देवालय में मिलेगा। मंदिर, मस्जिद, गिरजाघर में नहीं मिलेगा। यह कोई वेद ग्रंथ या कुरान, बाइबल या गुरुग्रंथ साहब, अगर वह चिंतन परंपरा हम सबको प्राप्त होगी तो हमारी स्वयं की आत्मा एवं हमारे मन के भीतरी आवरण चित्र में दिखाई देगा।

कहा भी गया है कि ईश्वर कण कण में विराजमान हैं। हिंदी साहित्य का भक्ति काल और संतों की आदि परंपरा जिसमें निर्गुण और सगुण दोनों ने ही अपने-अपने स्तर से अपने आराध्य देव को अपने स्वयं के भीतर ढूंढने का प्रयास किया। यही भारतीय चिंतन परंपरा का मूल है। जिससे अनपढ़ और बड़ा ज्ञानी व्यक्ति कबीर घट-घट में प्राप्त करता है। बंद आंखों से जिसे सूरदास जैसी कविता बाल लीलाओं का वर्णन करती है।

प्रेम की पीर में मग्न कवि मलिक मोहम्मद जायसी जिसके मूल के अर्थों में ही स्वयं को पाता है और लौकिक-अलौकिक की जिज्ञासाओं को समझने का प्रयास करता है। स्वयं अपने को दास भाव से समर्पित पूजा अर्चना करने वाला कवि तुलसीदास प्रभु श्रीराम के दिव्य अलौकिक रूप को रामचरित्र मानस में साकार करता है। यह सब भारतीय परंपरा का चिंतनीय विकास ही तो है। जिसे आधुनिक काल में कवि जयशंकर प्रसाद चिंता से आनंद लोक की अमर यात्रा का वर्णन करते हुए अपनी चिंतन परंपरा को समझने एवं समझाने का प्रयत्न कर रहे हैं।

संपूर्ण हिंदी साहित्य भी अतीत एवं वर्तमान के काल खंडों से होते हुए सतत विकासात्मक नदी की तरह भारतीय चिंतन परंपरा के कई विविध आयामों को रेखांकित करता हुआ बढ़ रहा है। गीता में कर्म योग का संदेश मनुष्य को भौतिक जगत में जीने की

प्रेरणा देता है। आज संपूर्ण समाज के समक्ष अगर कोई व्यक्ति बुरी आत्माओं की परिधि में स्वयं कैद हो जाता है तो गीता का संदेश उसका मार्गदर्शन तय करता है। यह वही संदेश है जो अर्जुन जैसे गांडीवधारी वीर धुरंधर योद्धा को रणक्षेत्र में अग्निकुंड के समान वीर पुरुष बना देता है। यह भारतीय चिंतन परंपरा का ही ज्वलंत प्रमाण है कि व्यक्ति लक्ष्य विहीन होने के बावजूद भी सकारात्मक जीवन दृष्टि को धारण करते हुए अपने लक्ष्य को प्राप्त करने में सक्षम होता है। यह साधारण बात तो है परंतु इस साधारण बात के भीतर भारतीय चिंतन परंपरा की असाधारणता गहराई से अपनी जड़े जमाई हुई है।

भारतीय ज्ञान परंपरा की इस पद्धति को आज विश्वविद्यालय स्तर पर अपनाने की महत्वपूर्ण आवश्यकता है। ज्ञान विचारधारा का विषय नहीं है। विचारधारा ज्ञान का विषय हो सकता है। ज्ञान किसी भी व्यक्ति के मस्तिष्क के भीतर राजमुकुट-सा जड़ित, चमकते हिमालय की तरह, हीरे के समान है।

आज जहाँ लोभ एवं अपराध दिन-प्रतिदिन बढ़ता जा रहा है, मनुष्य स्वभाव से ही लालची है, ऐसी स्थिति में भारतीय प्राचीन ज्ञान परंपरा का अनुसरण एवं शिक्षण विद्यालय एवं विश्वविद्यालय का आधार बने, यह अत्यंत आवश्यक बन जाता है।

भारतीय ज्ञान परंपरा की इस ज्ञान रूपी धारा के प्रारूप एवं भविष्य को हम कहां तक सुदृढ़, पुष्पित एवं पल्लवित बना पाएंगे यह, हमारे नैसर्गिक आचरण पर निर्भर करता है। जीवन में सर्वप्रमुख निज व्यक्तित्व की तलाश जरूरी है। स्वयं से साक्षात्कार जरूरी है। द्वैत और अद्वैत की मूलभूत संरचना को समझना जरूरी है।

****

जीवन की महिमा (कबीर)

जीवन में मरना भला, जो मरि जानै कोय।

मरना पहिले जो मरै, अजर अमर सो होय।।

अर्थ : जीते जी ही मरना अच्छा है, यदि कोई करना जाने तो। मरने के पहले ही जो मर लेता है, वह अजर-अमर हो जाता है। शरीर रहते-रहते जिसके समस्त अहंकार समाप्त हो गए, वे वासना-विजयी ही जीवन मुक्त होते हैं।

मैं जानूँ मन मरि गया, मरि के हुआ भूत।

मूये पीदे उठि लगा, ऐसा मेरा पूत।।

अर्थ : भूलवश मैंने जाना था कि मेरा मन भर गया, परन्तु वह तो मरकर प्रेत हुआ। मरने के बाद भी उठकर मेरे पीछे लग पड़ा, ऐसा यह मेरा मन बालक की तरह है।

भारतीय संस्कृति और हिंदी

प्रो. खेमसिंह डहेरिया
कुलपति, अटल बिहारी वाजपेयी
हिंदी विश्वविद्यालय, भोपाल (म.प्र.)

किसी राष्ट्र का उत्थान और पराभव उसकी संस्कृति के उत्थान-पतन से गहरा जुड़ा होता है। संस्कृति का अवसान उस राष्ट्र की भाषा के अवसान के कारण होता है। इसलिए अपनी भाषा की उन्नति, संस्कृति तथा राष्ट्र की उन्नति का मूल है।

भारतेंदु हरिश्चंद्र का कथन है-

'निज भाषा उन्नति अहे, सब उन्नति को मूल।

बिन निज भाषा ज्ञान के, मिटत न हिय को शूल'॥

प्रत्येक भाषा का एक इतिहास होता है। अपनी ऐतिहासिकता में हिंदी ने अपना मानक रूप निर्मित करते हुए इस महादेश की संस्कृति को अभिव्यक्त करने की क्षमता प्राप्त की है। उसने भारत निर्माण की पुण्य यात्रा की है। इस ऐतिहासिक और सांस्कृतिक यात्रा में उसने समाज निर्माण, समाज पुनर्जागरण और समाज को मूल्य-धारक बनाने का महत्त्वपूर्ण काम किया है। लगभग 1200 वर्षों के इतिहास में हिंदी ने इतिहास और परंपरा को संयोजित करते हुए भारतीय जनमानस को उसकी जमीनी समझ दी है, प्रकारांतर से सांस्कृतिक समझ दी है। यहाँ यह बात स्पष्ट हो जाती है कि जीवन के साथ भाषा और संस्कृति का अटूट रिश्ता है। यह संबंध अपने उत्कृष्ट स्वरूप में ही राष्ट्र-रक्षण, राष्ट्र-भक्ति और राष्ट्रीय-अस्मिता में प्रतिफलित होता है। भारत निर्माण में इसी धर्मध्वज रूप में हिंदी की भूमिका सिद्ध होती है। संस्कृत साहित्य का सर्वोत्तम निचोड़ हिंदी के विश्व स्तरीय साहित्य में समाहित होता रहा है। उस साहित्य से व्यक्ति, समाज और राष्ट्र निर्माण की सद्यात्रा हिंदी ने की है। हम हिंदी की बात करते हैं, और हिंदी में बात करते हैं, तो विश्व स्तर पर जुड़ते हुए भी हम अपनी व्यक्तिगत पहचान के साथ अभिव्यक्त होते हैं- 'हिंदी हैं हम, वतन है हिंदोस्ताँ हमारा।'

सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह है कि जब हम अपनी हिंदी का एक शब्द बोलते हैं, तो उसके साथ ही हम उस शब्द की पूरी संस्कृति से परिचित होते हैं। वह शब्द अपनी अर्थ-संस्कृति में हमारे जीवन-व्यवहार, हमारे चिंतन और हमारी राष्ट्रीय अस्मिता में परिव्याप्त रहता है। 'सावन' केवल चार वर्णों के मेल का नाम नहीं है, बल्कि

इसका प्रयोग करते ही समय का एक मास-खंड, वर्षा, भाई-बहन का प्यार, झूले, प्रकृति की हरीतिमा, कोकिल, मोर, पपीहा, दादुर-ध्वनि, फसलों की लहलहाहट, नदी, नालों, तालाबों की जल-समृद्धि और किसान की आँखों का हरापन सबकुछ अपने जीवंत-संदर्भों के साथ प्रकट हो जाता है। इसलिए अपनी भाषा का शब्द कभी हमारे पास अकेला नहीं आता, वह अपने पूरे सांस्कृतिक अर्थ-परिवार के साथ आता है, अर्थात् हिंदी का प्रत्येक शब्द भारत और भारतीयता की आभा और आँच लिए होता है। इसलिए भारत की आत्मा को जानने के लिए हिंदी का ज्ञान परमावश्यक है।

हिंदी आरंभ से लेकर आज तक साहित्य और सांस्कृतिक नवजागरण की भाषा रही है। यह संतों- फकीरों-मजदूरों-किसानों की भाषा रही है। इसने भक्तिकाल में पूरे देश को एकसूत्र में बाँधकर भारत राष्ट्र को भावनात्मक और सांस्कृतिक रूप से सुगठित और समृद्ध किया है। यह राजा राम मोहन राय, दयानंद सरस्वती जैसे समाज सुधारकों की भाषा है। यह नानक, कबीर, तुलसी, सूर, मीरा, जायसी की भाषा तो है ही, सुभाषचंद्र बोस की आजाद हिंद फौज की भाषा भी हिंदुस्तानी हिंदी थी। अरविंद घोष हिंदी प्रचार को स्वाधीनता आंदोलन का हिस्सा मानते थे। बंकिमचंद्र चट्टोपाध्याय, ईश्वरचंद्र विद्यासागर, केशवचंद्र सेन भी हिंदी के समर्थक थे। विश्वकवि रवींद्रनाथ ठाकुर भारतीय भाषाओं और राष्ट्रभाषा हिंदी के अंतर्संबंधों को आलोकित करते हुए कहते हैं-

"आधुनिक भारत की संस्कृति एक विकसित शतदल के समान है, जिसका एक-एक दल, एक- एक प्रांतीय भाषा और उसकी साहित्य-संस्कृति है। किसी एक के मिटा देने से उस कमल की शोभा नष्ट हो जाएगी। हम चाहते हैं कि भारत की सब प्रांतीय बोलियाँ, जिनमें सुंदर साहित्य की सृष्टि हुई है, अपने-अपने घर में रानी बनकर रहें। प्रांत के जनगण की हार्दिक चिंता की प्रकाशभूमि स्वरूप कविता की भाषा होकर रहें और आधुनिक भाषाओं के हार के मध्य- मणि हिंदी भारत-भारती होकर विराजती रहे।"

संस्कृति एक जगह ठहरती नहीं। उसकी गतिशीलता और प्रवाह में ही समाज का हित है। हम जिस भाषा का प्रयोग करते हैं, वह भाषा भी संस्कृति की भाँति जीवन को आगे बढ़ाने वाली होती है। जिस प्रकार अपनी संतान के प्रति प्राणियों में मंगल भाव रहता है, उसी प्रकार आने वाली पीढ़ियों के प्रति भी उसी मंगल भाव का प्रसार करती रहती है। किसी भी संस्कृति का मूलाधार कितना भी महान् हो, यदि उसे जिया न जाए तो वह प्रभावहीन हो जाता है और संस्कृति कुंठित हो जाती है। संस्कृति की जीवंतता को बनाए रखने के लिए उसको खेती जैसा व्यवसाय बनाना होता है। जहाँ प्रतिवर्ष खेत को कई-कई बार जोतना पड़ता है, सींचना पड़ता है, बीज

डालना पड़ता है। देवनागरी ने इस दिशा में निरंतर अपनी उर्वरता का प्रमाण दिया है।

भारतीय संस्कृति का मूलभाव हिंदी लोक-साहित्य में सहज ही देखने को मिलता है। वह किसी एक व्यक्ति, परिवार या एक गाँव अथवा एक जाति तक सीमित नहीं रहता। वह तो संस्कृति की इस संपदा को भी केवल अपनी संपदा नहीं मानता, पूरे विश्व की संपदा मानता है। साहित्य जब तक लेने से अधिक देने में विश्वास रखने वाली इस संस्कृति का प्रसार करता रहेगा, तब तक अपने भीतर की आँच के साथ ही सबके दुःखों की आँच का अनुभव कराता रहेगा, संस्कृति पर राख या धूल नहीं जम पाएगी और वह अमृत की रसमय पहचान कराती रहेगी। इतिहास साक्षी है कि हिंदी साहित्य ने समाज को सदैव मार्ग दिखाया है।

संस्कृति एक दूरगामी दृष्टि रखती है और कभी-कभी तात्कालिक महत्त्व को उतना अधिक ध्यान में नहीं रखती, उसे परखती जरूर है। स्वतंत्रता संग्राम में हिंदी और उसकी लोकभाषाओं ने जो स्वाधीनता की चेतना जगाई, संघर्ष के लिए आग दी, वह इतिहास भुला नहीं पाएगा। यह संघर्ष केवल राजनीतिक स्वतंत्रता के लिए ही नहीं था, वह सांस्कृतिक अस्मिता की रक्षा के लिए भी था।

किंतु स्वतंत्रता के बाद सांस्कृतिक विकास सत्ता का मुखापेक्षी हो गया। इसीलिए मूल्यों की रिक्तता आ गई, जो भर नहीं पा रही है। इसका मूल कारण है कि व्यक्ति, साहित्यिक संस्था, सांस्कृतिक संस्थाएँ सत्ता से निरपेक्ष होकर देश, की चिंता नहीं कर रही हैं। आज साहित्य का दायित्व और बढ़ गया है। आज सांस्कृतिक चेतना का विकास करने के लिए साहित्य को ही आगे आना है।

हमारी संस्कृति हमें वापस बुला रही है। वह कह रही है कि दूर-दूर तक यात्रा कर आओ, पर लौटकर वापस अपने घर आ जाओ, क्योंकि तुम्हारी मिट्टी तुम्हें वापस बुला रही है। हमारी संस्कृति यह कह रही है कि मैं प्रदर्शनी की वस्तु नहीं हूँ; संग्रहालय में सुरक्षित रखने की वस्तु नहीं हूँ; मुझे अपने जीवन के प्रवाह में बहने दो, इस प्रवाह में देवनागरी की शक्ति और सामर्थ्य को भी निरंतर विकसित करते रहना आवश्यक है। इसलिए भारत ही नहीं, विश्व की समस्त भाषाओं का लिप्यंतरण देवनागरी में करके उसकी शक्ति की पहचान पूरे विश्व को कराना आज आवश्यक हो उठा है, क्योंकि भारतीय संस्कृति, भाषा और लिपि की ओर पूरे विश्व का ध्यान आकृष्ट हुआ है।

भारतीय लोक संस्कृति में प्रकृति के साहचर्य का जो आप्लावित भाव है, वह सांस्कृतिक चेतना का मूल भाव है। यह भाव धर्म के आग्रह के साथ जुड़ा है, जिसके कारण कोई उससे अलग होने की सोच भी नहीं सकता था। पर अब धीरे-धीरे इस भाव का ह्रास होता जा रहा है। इनके पुनर्स्थापन का दायित्व भी

हिंदी को निभाना है। भारतीय संस्कृति के सिद्धांत यदि कहीं भौतिक रूप में जीवित हैं तो वह देवनागरी लिपि के माध्यम से हैं। हमारी पूरी जीवन प्रणाली की प्रतीक है देवनागरी लिपि, जिसके आश्रय में आकर संस्कृति विहीनता से हम बच सकते हैं।

लोक संस्कृति की सहज उपस्थिति न केवल भारतीय संस्कृति के मानचित्रण को परिभाषित करने के पारंपरिक तरीकों को चुनौती देती है; इस तथ्य पर भी हमारा ध्यान आकर्षित करती है कि क्षेत्रीय संस्कृतियाँ ऐसी आधार-तल हैं जो स्थानीय रूप से निर्मित होती हैं, सांस्कृतिक रूप से चिह्नित होती हैं और अपने अद्वितीय सामाजिक संदर्भ के अनुसार संकेतित होती हैं। "सामाजिक" चीजों की प्रकृति पर ध्यान केंद्रित करके, हम भारतीय संस्कृति और समाज को समझाने में अति-सामाजिक और ऐतिहासिक कारकों और मैट्रिक्स पर भरोसा करने के जाल से बच सकते हैं।

कला, मातृभाषा एवं संस्कृति के संबंध पर विचार आवश्यक है। मातृभाषा अपने माँ-पिता से प्राप्त भाषा है। उसमें जड़ें हैं, स्मृतियाँ हैं व बिंब भी। मातृभाषा एक भिन्न कोटि का सांस्कृतिक आचरण देती है, जो किसी अन्य भाषा के साथ शायद संभव नहीं। मातृभाषा के साथ कुछ ऐसे तत्व जुड़े होते हैं, जिनके कारण उसकी संप्रेषणीयता उस भाषा के बोलने वाले के लिए अधिक मार्मिक होती है। यह प्रश्न इतिहास और संस्कृति के वहन से भी संबद्ध है। इसलिए शिक्षा में इसका महत्व है। संस्कृति का कार्य विश्व को महज बिंबों में व्यक्त करना नहीं, बल्कि उन बिंबों के जरिए संसार को नूतन दृष्टि से देखने के ढंग भी विकसित करना है। औपनिवेशिकता के दबावों ने ऐसी भाषा में दुनिया देखने के लिए विवश किया गया था जो दूसरों की भाषा रही है। उसमें हमारे सच्चे सपने नहीं आ सकते थे।

साम्राज्यवाद सबसे पहले सांस्कृतिक धरातल पर आक्रमण करता है। वह भाषा को अवमूल्यित करने लगता है। हमारी ही भाषा को हीनतर बताता है। लोग अपनी मातृभाषा से कतराने लगते हैं और विश्व की दबंग भाषाओं के प्रभुत्व को महिमामंडित करने लगते हैं। हम उसी से अभिव्यक्ति करने लगते हैं या बंध जाते हैं और मातृभाषा अंततः छोड़ने लगते हैं। गर्व से कहते हैं कि मेरे बच्चे को मातृभाषा नहीं आती। यानी भाषा का वर्गांतरण होता जाता है। यह कलात्मक रूप से पुनर्विचार की स्थिति पर ले आता है।

भाषा, केवल अभिव्यक्ति का ही माध्यम नहीं होती अपितु सांस्कृतिक विकास और विस्तार का भी साधन व माध्यम होती है। भाषा, सभ्यता और संस्कृति की यह त्रयी प्रत्येक देश के लिए बहुत महत्वपूर्ण होती है। इस त्रयी की साधना और संतुलन तब तक "बना" रहती है जब तक समाज में सर्वत्र विकासमान स्थिति बनी रहती है। इस त्रयी में सबसे बड़ा योगदान

भाषा का होता है। भाषा ही वह शक्ति है जो सभ्यता और संस्कृति को परस्पर जोड़ती है। यह हम सभी के लिए गौरव एवं प्रेरणा का विषय है कि भारत के राष्ट्र नायकों ने इस तथ्य को समय-समय पर समझा और इसे स्थापित भी किया है। समाज में बड़े-बड़े बदलाव भाषा के माध्यम से ही हुए हैं। इतिहास इस सत्य का साक्षी है। हम भक्तिकाल के जननायक कबीरदास और तुलसीदास का ही उदाहरण लें अथवा आज़ादी के सेनानायक महात्मा गांधी का उदाहरण लें। क्या कबीरदास, तुलसीदास, महात्मा गांधी जो बात जन-जन तक पहुँचाना चाहते थे, यदि उनका माध्यम जनसामान्य की भाषा न होती तो क्या वे अपना संदेश जन-सामान्य तक पहुँचा पाते?

आज भी जब हम कबीर को बीजक में पढ़ते हैं, तब हमें जो कबीर दिखते हैं, वे भिन्न कबीर हैं। जिस कबीर को हम बनारस के चौराहे पर "लुकाठी लिए" खड़ा देखते हैं, वे जनमानस के कबीर हैं। उनकी भाषा को पढ़ और अपढ़, दोनों ही तरह के लोग समझते हैं। यही कारण है कि कबीर का संदेश जन-जन तक जा पहुँचता है। यही बात तुलसीदास जी के ऊपर भी लागू होती है। वे रामचरित मानस के माध्यम से रामायण के संदेश को सहज भाषा में सामान्य जन तक पहुँचा देते हैं। तुलसीदास ने रामकथा को लोक की सहजभाषा में लिखकर उसे जन-जन तक पहुँचाया।

सत्यं वद, धर्मं चर, ऋतस्य गोपा न दाभाय, सत्यमेव जयते, (मुंडकोपनिषद) भद्रं मनः, मा निंदत, मनुर्भव, आयुष्मान भव, सौभाग्यवती भव, अहिंसा परमो धर्मा, ऊनेन हीयते आदि- जैसे सूक्त लोक संस्कृति के संस्कार कृत वाक्य बन गए, जिन्हें कभी लोकोक्तियों में, तो कभी मुहावरों के रूप में नैतिकता को उभारने और स्मृति में लाने के लिए बोलना, लोक संस्कृति का स्वभाव हो गया। स्वभाव में जो भी घटित होता है, वह विचार तल का साक्षी भाव होता है। इसके लिए कभी ग्रंथ नहीं खोले गए। ये तो जन-मानस के चिंतन का स्वभाव और अभिन्न भाग है जो स्वभाववश ही मुखरित होते हैं और अनायास ही आगामी पीढ़ी को हस्तांतरित हो जाते हैं। इसीलिए कहा जाता है कि ज्ञान का संबंध पढ़ाई से ज्यादा आंतरिक अनुभूतियों से है। कबीर पढ़े लिखे नहीं थे, किंतु वे आध्यात्मिक दार्शनिक थे।

ऋतस्य गोपा न दभाय
सत्यम वद, धर्मं चर।
संगति ही गुण ऊपजे, संगति ही गुण जाइ
कृण्वन्तो विश्वमार्यम- (ऋग्वेद 1/63/5)
सब जग लागे आपुनो
सत्यमेव जयते नानृतम।
मनः सत्येम शुद्धति ।
सत से शुद्ध होइ मन जाको।
मामेकं शरणं ब्रज ।

आदि के सूक्त लोक भाषा में, सच बोलो, धर्म करो, साँच को आँच नहीं, सत्य की जय हो,

अधर्म का नाश हो, जीते रहो, पाँव लागूँ, निंदा नहीं करो, दूधो नहाओ पूतों फलो के आशीष वचन की लोक भाषा के रूप में हिंदी की आंचलिकता का यह अन्तः संबंध ही तो है। नीति परक संदेशों के माध्यम से भी इतर लोक संस्कृति जन कल्याण और जन स्वास्थ्य के लिए सजग है।

लोकोक्तियों में जनहित के स्वास्थ्य परक, नीतिपरक और नैतिकता के संदेश के सन्निहित बीज, संस्कृति की ही देन है और लोक संस्कृति की ग्राह्यता का परिणाम है।

विभिन्न प्रांतों की लोक भाषाओं में मूल संस्कृति का ही वर्णन है। एक कहावत है- कोस-कोस पर पानी बदले, बीस कोस पर बानी। किंतु ध्यान दें, प्यास और पानी से मिली तृप्ति का संबंध तो चिरंतन है और एक सा ही है, लोक भाषा में कुछ कहें किंतु पानी, प्यास और तृप्ति का संबंध पूरी सृष्टि में, हर जीवधारी के लिए एक सा है।

सृष्टि में सदा से ही शुभ-अशुभ विचारों की सत्ता रही है, किंतु संस्कृति केवल शाश्वत और कल्याणकारी, अभ्युदय और निःश्रेयस की ओर ले जाने वाली संस्कृति का ही संवहन करती है, जैसे- पर द्रव्य लौष्ठवत, मा निंदत, आत्मा अनिभृष्टाः, मातृवत परदारेषु, आत्मवत सर्वभूतेषु आदि। ये वैचारिक अलख जो अंतर्निहित है उसका शंखनाद संस्कृति करती है और लोक संस्कृति में उसका भाषा रूपांतरण होता है, भाव रूपांतरण नहीं। जो भाषा परंपराओं, मान्यताओं, विचारों, आचरण, स्थापत्य, वास्तु, मूर्तियों में मूर्त और अमूर्त रूप में व्यक्ति से लेकर समस्त समाज में परिलक्षित होती है, यही संस्कृति है।

संस्कृति में दृश्य और अदृश्य जगत की भावनाओं, विचारों तथा मान्यताओं के गहरे समीकरण समाहित हैं। इन सबसे भी कहीं परे भारतीय संस्कृति में तो पाँच तत्वों की भी संस्कृति है। जैसे- पुरवाई चले और बदली छाये तो मन मोर से लेकर जंगल के मोर और कवित्त हृदय भी स्पंदित होकर कालीदास महाकाव्य 'मेघदूत' लिख देते हैं। बहे पुरवा पवनिया, संदेसा लेके जाओ मितवा। कुम्हार के चाक से बने एक घड़े का आकार और उस पर उभरी कलाकृति से लेकर तिरुपति, पद्मनाभ और कोणार्क मंदिरों के स्थापत्य और वास्तु, सभी संस्कृति को ही मुखरित करते हैं।

अपनी सनातन संस्कृति का पालन करते हुए ही भारत आज आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, आध्यात्मिक क्षेत्रों में कार्य करता हुआ दिखाई दे रहा है एवं इसके चलते भारत आज कई क्षेत्रों में पूरे विश्व को राह दिखा रहा है। वैसे भी किसी भी राष्ट्र के मूल में कुछ तत्व निहित होते हैं, जिनके बल पर वह देश आगे बढ़ता है और समाज के विभिन्न 'वर्गों को एकता के सूत्र में पिरोए रखता है। भारत एक राष्ट्र के रूप में परिणत होने का मूल आधार सनातन हिंदू संस्कृति है।

सनातन संस्कृति में जो व्यक्ति जितना विशिष्ट होगा, उतना ही वह विनयशील होगा, और इस नाते भारतीय सनातन संस्कृति अविभाजनकारी दर्शन पर चलकर सर्वसमावेशी है। इसमें ईश्वरीय भाव जाहिर होता है। जो मेरे अंदर है, वही आपके अंदर भी है। अर्थात् मुझमें भी ईश्वर है और आपमें भी ईश्वर का वास है। इस प्रकार प्रत्येक भारतीय, चाहे वह किसी भी जाति का हो, किसी भी मत, पंथ को मानने वाला हो, अपने आप को भारत माता का सपूत कहने में गर्व का अनुभव करता है और इसलिए भारतीय सनातन संस्कृति अन्य संस्कृतियों को भी अपने आप में आत्मसात् करने की क्षमता रखती है। इतिहास में इस प्रकार के कई उदाहरण दिखाई देते हैं।

भारतीय चिंतन धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन चार स्तंभों पर स्थापित है। इस दृष्टि से चाहे व्यक्ति हो, परिवार हो, देश हो अथवा विश्व हो, किसी के भी विषय में चिंतन का आधार एकांगी न मानकर एकात्म माना जाता है। भारत के उपनिषदों, वेदों, ग्रंथों में भी यह बताया गया है कि मनुष्य का जीवन अच्छे कर्मों को करने के लिए मिलता है एवं देवता भी मनुष्य जीवन के प्राप्त करने के लिए लालायित रहते हैं। अच्छे कर्म कर मनुष्य अपना उद्धार कर सकता है, इसीलिए भारतीय धरा को कर्मभूमि माना गया है। हिंदू धर्म को मानने वाले अनुयायी बहुत कोमल स्वभाव एवं पूरे विश्व में निवास कर रहे प्राणियों को अपने कुटुंब का सदस्य मानने वाले होते हैं। बचपन में ही इस प्रकार की शिक्षाएं हमारे बुजुर्गों द्वारा प्रदान की जाती हैं।

अनेकत्व में एकत्व की अद्भुत संस्कृति समेटे, सभ्यता और भाषा का देश भारतवर्ष है जिसमें अखंड राष्ट्रीयता ध्वनित होती है। संस्कृति हमारी शिराओं में बहती है। यह वायु और जल की तरह आकार हीन है, किंतु जिस पात्र में डालो, पानी का वही आकार हो जाता है, वैसे ही संस्कृति में समाई शाश्वतता किसी भी लोक संस्कृति में परिणत हो जाती है।

****

रामचरित मानस की चौपाइयाँ

सुमति कुमति सब कें उर रहहीं।

नाथ पुरान निगम अस कहहीं।।

जहाँ सुमति तहँ संपति नाना।

जहाँ कुमति तहँ बिपति निदाना।।

अर्थ : हे नाथ ! पुराण और वेद ऐसा कहते हैं कि सुबुद्धि (अच्छी बुद्धि) और कुबुद्धि (खोटी बुद्धि) सबके हृदय में रहती है, जहाँ सुमति है, वहाँ सुबुद्धि है, वहाँ नाना प्रकार की संपदाएँ (सुख और समृद्धि) रहती हैं और जहाँ कुमति है, वहाँ कुबुद्धि है वहाँ विभिन्न प्रकार की विपत्ति (दुःख) का वास होता है।

****

मूल्य और आचार : ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य

डॉ. साकेत कुमार सहाय,
मुख्य प्रबंधक (राजभाषा)
पंजाब नेशनल बैंक,
अंचल कार्यालय, पटना

जहां 'मानव' शब्द अपने आप में स्वभाव, प्रकृति, गुण यानी व्यक्ति-सापेक्षता का सूचक है तो 'मूल्य' अपने आप में परोपकार, परहित, सहजीविता, ऊर्ध्वगमन, उत्कर्ष, प्रेम-करुणा आदि का सूचक। इस दृष्टि से मानव मूल्य का अर्थ 'व्यक्ति की प्रकृति' का 'सामाजिक प्रकृति' तक जाना' या 'व्यक्ति प्रकृति' का सामाजिक प्रकृति में रूपान्तरण' से है। सत्य, करुणा, प्रेम, धर्म, परोपकार जब सामाजिक वृत्त से आच्छादित हो जाती है, तब वह 'मूल्य' बन जाती है जिससे जीवन पवित्र हो और अपने कारण किसी अन्य को कोई असुविधा न हो ऐसे ही आचार को मूल्य माना जायेगा। यह भी कहा जा सकता है कि मनुष्य द्वारा आचरित आदर्शों की स्थापना को ही मूल्य कहा जाता है। मूल्यों के अनुपालन से ही किसी भी स्वस्थ समाज की स्थापना संभव है। यही कारण है कि आज बड़ी-बड़ी कार्पोरेट कंपनियां भी जीवन मूल्यों की स्थापना पर अधिक जोर दे रही है। आज हर कंपनी में स्टाफ सदस्यों के लिए आचार संहिता निर्मित है। यह आचार संहिता जीवन मूल्यों पर ही आधारित है। इस लिखित दस्तावेज में उचित कार्यस्थल व्यवहार और प्रक्रियाओं का वर्णन रहता है जो कंपनी के सांस्कृतिक मूल्यों पर आधारित होता है। पर इसकी नींव प्रमुख जीवन मूल्यों पर ही टिकी रहती है। मूल्य और आचार सभी स्तरों पर ईमानदारी और स्वीकार्य व्यवहार के साथ काम करने हेतु संरचना एवं मार्गदर्शन प्रदान करते हैं। उदाहरण स्वरूप, किसी भी कंपनी के लिए एक संक्षिप्त, स्पष्ट और व्यापक आचार संहिता मेरुदंड की भांति कार्य करता है जो सभी स्तरों के कर्मियों में नैतिक आचरण और उचित व्यवहार को बढ़ावा देता है। यह शारीरिक और मानसिक कल्याण के साथ-साथ न्याय और समानता को भी बढ़ावा देता है। किसी संगठन में आचार संहिता नीति लागू होने से सुरक्षित और स्वस्थ कार्यस्थल के अभ्यास को भी बढ़ावा मिलता है। साथ ही, इससे प्रबंधन, कर्मचारियों और अन्य स्टाफ सदस्यों के बीच विश्वास को भी बढ़ावा मिलता है।

अत: यह कहा जा सकता है कि 'मूल्य' और 'आचार' परिवार, समाज, संगठन या राष्ट्र के सशक्तिकरण के लिए अनिवार्य घटक के रूप में कार्य करते हैं। जब हम मूल्य की बात करते हैं

तो उसमें आचार स्वतः जुड़ा होता है। मूल्य, व्यक्ति के व्यवहार या नैतिक आचार संहिता का महत्वपूर्ण घटक है। कहा भी गया है जब-जब इस 'धरा' पर मूल्यों का क्षरण हुआ है, अनैतिकता का साम्राज्य स्थापित हुआ है। रामायण, महाभारत में असत्य के ऊपर सत्य की जीत, जीवन मूल्यों की ही जीत है। यही सात्विकता है। आज समाज में दिन-प्रतिदिन बढ़ती अराजकता, अनैतिकता, हिंसा का मूल कारण जीवन मूल्यों का क्षरण है। आवश्यकता है इन मूल्यों को स्थापित करने की।

'मूल्य' शब्द से हमारा तात्पर्य किसी भौतिक वस्तु अथवा मानसिक अवस्था के उस गुण से है, जिसके द्वारा मनुष्य के किसी उद्देश्य अथवा लक्ष्य की पूर्ति होती है। मूल्यों का व्यक्ति के आचरण, व्यक्तित्व तथा कार्यों पर स्पष्ट प्रभाव पड़ता है। मूल्य संबंधी अवधारणाएं या मूल्य सामान्य रूप से भाषायी उपयोग को वांछनीय या नैतिक रूप से अच्छी तरह से विचार किए गए गुणों या गुणों के रूप में उपयोग करते हैं जो वस्तुओं, विचारों, व्यावहारिक या नैतिक आदर्शों, तथ्यों, व्यवहार के पैटर्न, चरित्र लक्षणों से जुड़े होते हैं। मूल्य के आधार पर निर्णय का अर्थ मूल्यों पर आधारित निर्णय होता है। किसी समाज के मूल्यों या मूल्यों से बनी समग्र संरचना को मूल्य प्रणाली कहा जाता है। आज के बाजार आधारित समाज में, मूल्य की अवधारणा मुख्यतः भौतिक अर्थों में प्रयुक्त की जाती है। जैसे-मौद्रिक अर्थव्यवस्था में "मूल्य निर्माण" उत्पादक गतिविधि के आवश्यक लक्ष्य के रूप में निर्धारित है। जिससे मूल्य के मुख्य अर्थ में कमी आई है। परंतु यह सत्य है कि यदि समाज को मानवीय अभिविन्यास दिया जाना है तो भौतिक मूल्य अभिविन्यास को नैतिकता से दूर नहीं किया जाना चाहिए क्योंकि नैतिकता ही स्थायी तत्त्व है। मूल तत्त्व है। अनिवार्य तत्त्व है। मानव मूल्यों की स्थापना इसी पर आधारित है। आइए समझते हैं मानव मूल्य क्या हैं?

दीर्घ काल की औपनिवेशिक शासन व्यवस्था के कारण भारतीय मन पश्चिमी दर्शन से अधिक प्रभावित है। परंतु भारत की मूल परंपरा एवं संस्कृति भारत के जन-मन में बसी हुई है। यह परंपरा, संस्कृति ऐसे मानव मूल्यों को अपनाने की बात करता है जिसके सहारे मनुष्य का पूरा जीवन पवित्र होकर सजता, सँवरता है, ऐसे "आचरणीय सूत्र ही मानव-मूल्य" हो सकते हैं। जिनके भीतर धर्म का आचरण, सत्य, परोपकार, दानशीलता, सेवा भाव, त्याग, शांत रहना, अहिंसक होना, सहानुभूति की भावना आदि अनेक आचरणीय सूत्र आते हैं। इन्हीं मूल्यों की उत्कृष्टता का वर्णन हमारे संपूर्ण धर्म ग्रंथों में हुआ है। मूल्य के अभाव में जीवन सारहीन होगा, बंजर भूमि की भांति होगा। अर्थात् जो भी हमारे जीवन की प्रतिष्ठा है या जिन आचरणों से हमारा जीवन प्रतिष्ठित होता है उन्हें

हम जीकर प्रतिस्थापित करते हैं, तो वे ही मूल्य कहलाते हैं।

मानव मूल्य ही जीवन मूल्य है। जो मानव जीवन में आचरणों की महत्ता जानेगा, वहीं जीवन मूल्य जानेगा। मानव और पशु में मूल्य का ही अंतर है। भारतीय परंपरा के सुभाषित श्लोक को देखें-

आहार निद्रा भय, मैथुनं च सामान्यमेतत्
पशुभिनराणम्।
धर्मोहि तेषामथिको विशेषः धर्मेण हीनाः पशुभिः समानाः॥

आहार, निद्रा, भय और मैथुन ये चारों सामान्य रुप से मनुष्य तथा पशु, दोनों में पाये जाते हैं। केवल 'ज्ञान' ही मनुष्य के पास अधिक है जो इसे पशु से अलग करता है। इसके अर्थ से यह ज्ञात होता है कि मानव जीवन में 'ज्ञान' का कितना अधिक महत्व है। यहां यह भी विचारणीय है कि पशु भी ज्ञानी, समझदार होते हैं। आशय यही है कि विषय के मार्ग में जाने का ज्ञान सभी को होता है, सभी के लिए विषय भी अलग-अलग हैं।

बहुधा स्वयं भूख लगी रहनें पर भी पशु-पक्षी मोहवश अन्न के दाने डाल देते हैं। क्या वे इसके बदले में हमें क्या मिलेगा, सोचकर ऐसा करते हैं? नहीं। किंतु मनुष्य लोभ में आकर – 'लोभात्प्रत्युपकाराय' प्रति उपकार की भावना से अपनी संतानों के साथ ऐसा करता है। अतः प्रति उपकार की भावना से की गयी सहायता परोपकार नहीं है। किसी अपरिचित के संकट में सहायता करके उसे उबारना ही परोपकार है। जब प्रति उपकार की भावना होगी तब लोभ पहले ही खड़ा मिलेगा। ऐसे आचरण को परोपकार नहीं कहेंगे। स्पष्ट है कि बिना आचरित हुए मूल को 'मूल्य' नहीं कहा जा सकता। यह भी कहा जा सकता है कि 'ज्ञान पर आधारित आचरणात्मक तत्त्वों का समाहार मूल्य हैं। 'उक्त उद्धरणों से स्पष्ट है कि मूल्य के रुप अनेक हैं किंतु स्वरुप तात्विक है। परिवर्तित होते रहना रुप का स्वभाव है। परिवेश के अनुसार, मान्यताओं के अनुसार, मूल्यों के रुप भिन्न-भिन्न देखें जाते हैं, किंतु सभी मूल्य, अपनी स्थितियों में उसी प्रकार रहते हैं।

मानवीय मूल्यों की प्राप्ति का सुगम मार्ग है- आचारण और जो धर्म यह सिखाता है उसे आचारधर्म कहा जाता है। हमारे जीवन का प्रत्येक कार्य आचरण है। इस सृष्टि के संचालन में सहायक सभी गतिविधियों को 'आचार' कहा जाता है। आचरण के तहत व्यक्ति धर्म के नियमों के अनुसार सामंजस्यपूर्ण जीवन जीना सीखता है। इसे आचरण के नाम से जाना जाता है। हिंदू धर्म या भारतीय संस्कृति में अनादि काल से हमारे जीवन की प्रत्येक गतिविधि को सावधानीपूर्वक तैयार किया गया है, और एक प्रकार से ऋषि-मुनियों की सहायता से इसे सत्व -प्रधान' प्रतिबंधों की श्रृंखला'में बुना गया है। इस श्रृंखला को 'आचरण' कहा जाता है ।

यदि देखें तो आज भी ये प्रमुख मूल्य ही जीवन के सार तत्व है। आज के आधुनिक युग में भी व्यक्ति इन्हीं मूल्यों के आधार पर जीवन जीने का प्रयास करता है। यही सात्विकता के नींव है।

ये प्रमुख मूल्य इस प्रकार से हैं-

शैक्षिक संस्कारों के निहितार्थ में जीना या धर्म पालन।

सेवा भाव

श्रद्धा

करुणा

परोपकार

हमारे धर्म ग्रंथों में मूल्यों के आचरण अनेक स्थानों पर बताये गये हैं,जिसमें हमारे जीवन को सार्थक बनाने के सभी उपक्रमों का उल्लेख विस्तार से मिलता है। इन मानव मूल्यों में शामिल है, सत्य बोलना, हिंसा न करना, दयालु होना, उचित-अनुचित का विवेक, एकांत में स्त्रियों के साथ न रहना ही जितेंद्रिय बनने में सहायक है।

गुरु अथवा शिक्षक के प्रति समर्पण, गुरु के अनुकरणीय आचारों का अनुगमन करना , प्रकृति की रक्षा करना, लोभ से दूर होना, वासना के वशीभूत होकर अनाचार में लिप्त न होना। प्राप्त का दान करने में संकोच न करना, ये सब 'मूल्य' है। यही हमारे शैक्षिक संस्कारों के निहितार्थ में जीना है। यदि इन्हें जियेंगे तो आपका जीना ही 'मूल्य' कहलायेगा।

सेवा मनुष्य का सबसे बड़ा गुण है जो अन्य प्राणियों से इसे श्रेष्ठतम बनाता है। विवेक, बुद्धि, काल और समय का विचार करके सेवा धर्म का निर्वहन होता है। परम श्रद्धेय देव हनुमान जी सेवा और आत्मसमर्पण के प्रतीक हैं। गोस्वामी तुलसीदास जी कहते हैं –

आगम निगम प्रसिद्ध पुराना।
सेवा धरमु कठिन जगु जाना ।

भारतीय चिंतन में सेवा जीवन शैली का एक विशिष्ट अंग है। सामाजिक सेवा कीर्ति बढ़ाती है। कहा गया है 'सेवा का वास तप के मूल में है।' सेवा धर्म में स्वार्थ, ईर्ष्या के कारण विरोध आता है। सेवा का भाव परिवार और मां-पिता की गोद में उपजता है। यह सबसे बड़ा संस्कार होता है। सेवा करने की तत्परता महानता का लक्षण है। दूसरों के लिए नि:स्वार्थ भाव से किया गया कार्य सेवा है।

सेवा का अर्थ है देने के अलावा न लेने का संकल्प। सेवा व्रत सदाचरण का प्रतीक है। सेवा का श्रेष्ठतम रूप माता-पिता, आचार्य और अतिथि की सेवा करना है। सेवा का संस्कार महान बनाता है। स्वामी विवेकानंद ने कहा है कि त्याग और सेवा भारत के दो आदर्श हैं। वही जीवित हैं, जो दूसरों की सेवा के लिए जीते हैं। हमारे ग्रन्थों में कहा गया है 'समाज सेवा विराट की सेवा है।' सेवा धर्म की पावन मंदाकिनी सबका मंगल करती है, सबका कल्याण करती है। यह लोक साधना का सहज संचरण है। माता-पिता की सेवा से बढ़कर कोई तप नहीं है। सेवा मानवीय गुण है। निष्काम सेवा का फल 'आनंद' है।

धर्म के आचरण से पहले श्रद्धा का स्थान है। रामचरितमानस में कहा गया है–'श्रद्धा बिना धरम नहि होई।' सभी मूल्यों का आचरण धर्म का आचरण है। धर्म शब्द मात्र कर्तव्य पालन के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। महाभारत के वन पर्व में एक शूद्र धर्मव्याध का आख्यान उल्लिखित है, जो मांस विक्रय का पेशा करता था, परंतु उसने ब्राह्माण कौशिक को उपदेश देकर यह सिद्ध किया कि' संसार में स्वधर्माचरण से श्रेष्ठतम तथ्य अन्य कुछ नहीं है, जिसका आचरण ही मानव के लिए परमोत्कृष्ट धर्म है।'

जनम संस्कार मात्रेण, धर्म मार्ग प्रवर्तकः
उपदेशम् कौशिकाय,धर्मव्याधो भवत्तदा।

महाभारत के वन पर्व में यक्ष जब युधिष्ठिर से अनेक प्रश्न पूछकर जब संतुष्ट होता है, तो वह कहता है कि 'हे युधिष्ठिर! बुद्धिजीवियों ने स्पष्टतः कहा है कि इस संसार में स्वधर्माचरण से बढ़कर अन्य कोई तपस्या नहीं है, जिसका आचरण कर तुमने उसके महत्व को सिद्ध कर दिया है।' मानव व्यवहार में करुणा का सबसे बड़ा स्थान है। पशुओं में भी करुणा पाई जाती है। करुणा से पहले मनुष्य आचरण की किसी कोटि में नहीं आता है। वस्तुतः शोक में करुणा रहती है किन्तु दूसरे के दुख को देखकर दुखी होने पर यह प्रकट होती है। राम कथा में दशरथ का विलाप पुत्र के दुख से दुखी होना करुणा की श्रेणी में आता है। करुणा बुद्धावतार का बहुत बड़ा संदेश है। बुद्ध को करुणा की मूर्ति कहा गया है। भागवत में कहा गया है संसार एक वृक्ष है, इसके दो ही फल है –सुख और दुख। जीवन एवं शरीर की प्राप्ति मानव-सेवा के लिये है, न कि भोग हेतु।

इस संदर्भ में प्रकृति ही हमारा प्रथम गुरु है यथा,

परोपकाराय फलन्ति वृक्षाः
परोपकाराय वहन्ति नद्यः
परोपकाराय दुहन्ति गावः
परोपकारार्थमिदम् शरीरम् ।

उक्त श्लोक से हमें अपने कर्तव्य का बोध स्वयमेव हो जाता है। परोपकार का अर्थ है-'दूसरों की भलाई करना।' कोई व्यक्ति जीविकोपार्जन के लिए अनेक उद्यम करते हुए यदि दूसरे व्यक्तियों और जीवधारियों की भलाई के लिए कुछ प्रयत्न करता है तो ऐसे प्रयत्न परोपकार की श्रेणी में आते है। मन, वचन और कर्म से परोपकार की भावना से कार्य करने वाले व्यक्ति संत की श्रेणी में आते हैं। तुलसीदास जी ने परोपकार के विषय में लिखा है –

'परहित सरिस धरम नहिं भाई।
परपीड़ा सं नहिं अधमाई॥'

दूसरे शब्दों में, परोपकार के समान कोई धर्म नहीं है। परोपकार ईश्वर प्राप्ति का एक सोपान भी है। प्रकृति का कण-कण हमें परोपकार की शिक्षा देता है – नदियां परोपकार के लिए बहती है, वृक्ष धूप में रहकर हमें छाया देता है, सूर्य की किरणों से सम्पूर्ण संसार प्रकाशित होता है। चंद्रमा से शीतलता, समुद्र से वर्षा, पेड़ों से फल-फूल और सब्जियाँ, गायों से दूध, वायु से प्राण शक्ति मिलती है। भारत में तो अनेक उदाहरण भरे पड़े हैं – दधीचि ऋषि ने देवताओं की रक्षा के लिए अपनी अस्थियाँ दे डालीं। भगवान शिव ने समुद्र मंथन से निकले विष का

पान किया, महाभारत काल में कर्ण ने कवच और कुंडल याचक बने इन्द्र को दे डाले। त्याग के लिए त्याग भावना सहज होनी चाहिये। जब हम अपनी आवश्यकताओं की उपेक्षा कर किन्हीं जरूरतमंदों का उपकार कराते हैं तो उसे ही त्याग भावना कहा गया है। कठोपनिषद का स्पष्ट कथन है कि कर्म, संतान अथवा धन के माध्यम से अमृतत्व की स्थिति को कदापि नहीं पाया जा सकता है, केवल त्याग के माध्यम से ही इसे प्राप्त किया जा सकता है यथा-

'न कर्मणा न प्रजया धनेन
त्यागेनैकेन अमृतत्व मानसूः'

महाभारत में राजा शिवि का आख्यान वर्णित है, 'एक कपोत की रक्षा के लिए अपने शरीर को काटकर उन्होंने बाज को अपने शरीर का मांस तक दे दिया था।' इस प्रकार, यह कहा जा सकता है कि जिससे जीवन पवित्र हो और अपने कारण किसी अन्य को कोई असुविधा न हो ऐसे ही 'आचार' को मूल्य माना जायेगा। सेवा और परोपकार के बल पर ही पृथ्वी पर मनुष्य को सभी प्रकार के वैभव की प्राप्ति हुई है। हमारे सभी पुराण, महाकाव्य आदि इस बात के साक्षी हैं। मूल्य और आचार संबंधी अनेक ऐतिहासिक प्रसंगों, उद्धरणों, आदि से यह स्पष्ट है कि जीवन मूल्य और आचार परस्पर आबद्ध हैं। हमारे पूरा पुरुषों ने इसे अपने अकाट्य जीवन मूल्यों से सिद्ध भी किया है। भारतभूमि तो मूल्य और पुण्य की भूमि के रूप में स्थापित है। यह भूमि अपनी परंपरा, संस्कृति के लिए जानी जाती है। भारत भूमि पर सदा से मानव मूल्य के अभिन्न तत्त्वों यथा, धर्म पालन, सेवा भाव, श्रद्धा, करुणा, परोपकार, त्याग भाव का महत्व स्थापित है। समय के साथ विदेशी प्रभाव, अनैतिकता आदि कारणों से यह भूमि जरूरी पतित हुई। जिससे इस देश की सभ्यता-संस्कृति क्षरित हुई। वह संस्कृति, जिसके बारे में कहा गया है –

यूनान–ओ-मिस्र-ओ-रूमां सब मिट गए जहाँ से
अब तक मगर है बाक़ी नाम-ओ –निशां हमारा
कुछ बात है कि हस्ती मिटती नहीं हमारी
सदियों रहा है दुश्मन दौर-ए-जमाँ हमारा

यह शक्ति रही भारत के धर्मपालन की, नैतिकता की। यही कारण है कि यह देश सदियों से सशक्तता के स्थापित है। आगे भी भारत भूमि सशक्त रहें इस हेतु मानव मूल्य के अभिन्न तत्त्वों यथा, धर्म पालन, सेवा भाव, श्रद्धा, करुणा, परोपकार, त्याग भाव को सत्व भाव से अपनाने की आवश्यकता है। मूल्य और आचार संबंधी ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य हमें यह भी सिखाते हैं कि हमें अपनी परंपरा, संस्कृति पर गर्व करना होगा। उसे सत्व भाव से सींचना होगा। उसके मूल भाव को अपनाना होगा। तभी भारत विश्व में शीर्ष पर रहेगा। यह शीर्ष भाव भी सत्व का होगा। जयशंकर प्रसाद जी के शब्दों में -

सुना है दधीचि का वह त्याग, हमारी जातीयता विकास
पुरंदर ने पवि से है लिखा अस्थि युग का मेरा इतिहास
जियें तो सदा इसी के लिए, यही अभिमान रहे यह हर्ष
निछावर कर दें हम सर्वस्व हमारा प्यारा भारतवर्ष

*****

प्रार्थना - भारतीयता की पहचान

डॉ. यति शर्मा,
परामर्शदाता
इंदिरा गाँधी राष्ट्रीय
कला केंद्र, नई दिल्ली

समय के अनंत प्रवाह में जीवन ने बहुत कुछ देखा है और सुना है। शैशव काल से लेकर वृद्धावस्था तक यह मनुष्य अपनी स्मृति में अनेकानेक चित्र सजाता आया है और उन चित्रों से उसे सदा मोह रहा है। मनुष्य अपनी कल्पना की तूलिका से उसमें गहरे रंग भरता ही रहता है। जब यह कल्पना अनुभूति के समानांतर चलती है तब वह स्वस्थ होकर जीवन को राग-रंजित करती चलती है, और जब उसके प्रतिकूल चलती है तो वह स्वप्नों का रूप धारण कर लेती है। इसी तरह हमारी अनुभूतियाँ और संवेदनाएँ गहरे आघात भी लगाती चलती हैं और इससे हमें निजात भी दिलाती हैं।

हिंदुस्तान के पास अगर कोई शक्ति है तो वो है प्रार्थना। अगर गांधी जी के सिद्धांतों पर चलें तो नि:संदेह हिंदुस्तान विश्व गुरु बन जाएगा। हम सभी चेतन हैं और आज़ादी के साथ जी रहे हैं। प्रार्थना में अपार सामर्थ्य है, शक्ति है। प्रार्थना से भावना दृढ़ होती है। हमारे पास विचार हैं, अनुभूतियाँ हैं। गीता के अंतिम श्लोक में लिखा है "यत्र योगेश्वर: कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धर:। तत्र श्री विजयो भूतिर्ध्रुतानीति मिर्तर्मम्" अर्थात् – जहाँ योगेश्वर भगवान कृष्ण हैं और जहाँ गांडीवधारी अर्जुन हैं, वहीं श्री, विजय, विभूति और अचल नीति और नैतिकता होगी, ऐसा मेरा मत है। अन्य शब्दों में कह सकते हैं कि, "जहाँ भगवान हैं वहाँ भक्त हैं, वहाँ सब कुछ है। वैसे तो जहाँ भगवान हैं वहाँ सब कुछ होता ही है, लेकिन भगवान को हमने देखा नहीं, भक्त को तो हम देख सकते हैं इसलिए हमारे सामने भक्त की महिमा बढ़ जाती है। कृष्ण भी कहते हैं, अगर मुझे पाना है तो पहले भक्त को प्रेम करो, क्योंकि मैं अपने भक्तों से प्रेम करता हूँ। उनके ह्रदय में वास करता हूँ। उदाहरण के तौर पर समुद्र का पानी भाप बन कर बादलों में परिवर्तित हो जाता है और वहाँ से हमें मिलता है और हमारे लिए तो बादल ही समुद्र से बढ़ कर है। समुद्र को दिल्ली वाले क्या जाने! वो तो समुद्र किनारे नहीं रहते! वो तो बादलों का ही सदा उपकार समझेंगे। तुलसीदास जी ने लिखा ही है !....'राम ते अधिक राम के दासा'। हमारी प्रार्थना में अपार शक्ति विद्यमान होती है। यदि हम सभी अपने दैनिक कार्य व्यवहारों के साथ-साथ सुख व दु:ख में नित्यप्रति प्रार्थना का आधार लें और अपने

हृदय को पवित्र कर लें तो हमारे जीवन में स्वत: ही व्यापक परिवर्तन होने लगते हैं।

शरीर की शक्ति कायम रखने के लिए आपको रोज़ भोजन खाना पड़ता है, और आत्मा का भोजन प्रार्थना ही है। आत्मा के लिए तो चौबीसो घंटे प्रार्थना की ज़रूरत है। जो जैसी प्रार्थना करते हैं वैसे ही महान बनते हैं। 'जाकी रही भावना जैसी, प्रभु मूरत देखी तिन तैसी,' बिलकुल वैसे ही फल की प्राप्ति होती है। इसलिए जिसमें जितनी योग्यता है, वो उतना समय निकाले और हफ्ते में एक दिन प्रार्थना के लिए परिवार में सम्मिलित अवश्य हो।

भगवान की प्रार्थना में सभी वर्ण - भेदों को भुलाने का अभ्यास हो जाता है। मन स्वच्छ और निर्मल बनता है। ये आजकल की विडम्बना है कि एक को दूसरे की प्रार्थना के शब्द सहन नहीं होते। जहाँ अहंकार आया तो जानिए सब कुछ नष्ट हो गया। भगवान के आगे हम सब समान हैं। उनके समक्ष सब शून्य हो जाते हैं वहां कोई ज्ञानी नहीं, कोई अज्ञानी नहीं, कोई श्रीमान नहीं ,कोई गरीब नहीं, कोई ऊँचा नहीं ,कोई नीचा नहीं। रात में चन्द्रमा और तारों आदि में भेद चाहे आपको दिखाई दें, परन्तु सूरज निकलने पर सब कुछ साफ़ हो जाता है।

इस संसार में सभी प्राणी दुखी दिखाई देते हैं। एक के ऊपर दूसरा शासन करना चाहता है। किन्तु सर्व आत्मवशं सुखम् में सुख के जिस रूप का निर्धारण किया गया है, वह भारतीयों की उदात्त महानता को प्रकट करता है। भारत के प्राचीन महर्षियों ने प्रकृति के सन्सर्ग से सारा सुख भोगा, किन्तु इस सुख में भी उन्हें हर कदम पर प्रार्थना की आवश्यकता पड़ी। भगवान बुद्ध अतुल संपत्ति और ऐश्वर्य में डूबे थे, इसलिए जब उन्हें वृद्ध और शव दिखाई दिया तो इस दु:ख का निराकरण उनकी समझ में नहीं आया। कहने का तात्पर्य यह है कि उन्होंने मुक्ति और निर्वाण पाने की उत्कट इच्छा से ही प्रार्थना को आधार बनाया। यथार्थ और जीवन के संबंधों पर जब हम विचार करते हैं तो प्रार्थना हमारे जीवन के कितने अंशों को प्रभावित करती है। जीवन की इस संकीर्णता को दूर करने का केवल एक ही माध्यम है प्रार्थना!

प्रार्थना को देखा नहीं जा सकता। एक शावक पर शिकारी का आक्रमण होते देख शेरनी का रोम-रोम जिस भावना से भर उठता है, उसे कौन बता सकता है। वह केवल बच्चे की मां ही जानती है। उसी तरह प्रार्थना क्षण-क्षण हमें भावनाओं की तरह डूबने से बचाती है। सामान्य से लेकर तीव्रतम अनुभूतियों का प्रभाव सामान्यत: व्यापक तथा अमोध होता है। इसलिए मानव जीवन में प्रार्थना का बहुत महत्व है, और इसे ही भारतीयता और संस्कार कहते हैं।

प्रार्थना का शाब्दिक अर्थ है विशेष अनुग्रह की चाह। प्रार्थना के समय व्यक्ति अपने इष्ट के

सम्मुख जब आर्त्तनाद करता है अथवा निवेदन करता है, तो व्यक्ति का मन निर्मल होता है। नित्य की जाने वाली प्रार्थना से हमारा मस्तिष्क स्वच्छ विचारों को धारण कर स्वस्थ बनता है तथा हमारे मनोविकार नष्ट होते हैं। वास्तव में प्रार्थना हमें विनम्र और विनयी बनाती है जो कि हर व्यक्ति के स्वभाव की आवश्यकता है। आज समाज में इसकी बहुत आवश्यकता है। प्रार्थना के साथ किया जाने वाला कर्म साधक, उद्यमी द्वारा अपने कर्म को भगवान के चरणों में समर्पित मन में कर्ता के करने का दूसरा रूप है। इससे अहंकार नहीं आ पाता।

कहते हैं कि जो मनुष्य स्वयं शुद्ध है, किसी से द्वेष नहीं करता, किसी के द्वारा अनुचित लाभ नहीं उठाता और सदा मन को पवित्र रख कर आचरण करता है, वही धर्मात्मा है, और उसी को प्रार्थना का वास्तविक अर्थ पता है। दुनिया के साधारण शास्त्र बताते हैं कि दुनिया कैसी है, और नीति-शास्त्र बतलाता है कि दुनिया कैसी होनी चाहिए। इससे जाना जा सकता है कि मनुष्य को कैसा आचरण करना चाहिए। मनुष्य का कर्तव्य है कि वह शरीर, मन और मस्तिष्क, इन तीनों की जांच स्वयं प्रार्थना के द्वारा करे, तभी कुछ ज्ञान लाभ प्राप्त किया जा सकता है। ईश्वर सर्वशक्तिमान है – सम्पूर्ण है, उसके स्नेह की, उसकी दया की और उसके न्याय की कोई सीमा नहीं है, यदि ऐसा है, तो हम जो उसके बन्दे सेवक गिने जाते है, कैसे नीति मार्ग को छोड़ सकते हैं? कैसे प्रार्थना की उपेक्षा कर सकते हैं?

किसान को घास व भूसे की जरूरत होती है, पर वह घास भूसे के लिये खेती नहीं करता, अन्न की चाहत में खेती करता है। लेकिन फिर भी उसके साथ घास-भूसा भी आनुषंगिक रूप से मिल जाता है। इसी प्रकार ईश्वर की प्रार्थना करते समय ऐसा विचार करना चाहिए कि मुझे प्रभु की कृपा चाहिए, क्योंकि ईश्वरीय कृपा प्राप्त करने में ही आत्मा का कल्याण समाया है। इस प्रकार की उन्नत भावना रखने से अन्न के साथ-साथ जैसे घास भूसा अपने आप ही मिल जाता है, उसी प्रकार सासांरिक प्रदार्थ भी अनायास ही मिल जाते हैं। संसार में सब वस्तुएं पाने से ज्यादा आत्मा का कल्याण श्रेष्ठतर है। इसलिए आत्मिक निर्मलता के लक्ष्य से ही परमात्मा की प्रार्थना करनी चाहिए। अगर प्रार्थना द्वारा आत्मा का हित साधन हो सकता है तो तुच्छ चीज़ों को पाने के लिये प्रार्थना करना मतलब कि रत्न के बदले चना माँगने वाली बात होगी।

प्रार्थना किसी भी स्थान और किसी भी परिस्थिति में कर सकते हैं, लेकिन सबसे महत्वपूर्ण है आत्म समर्पणता, अर्थात् अपने आप को पूरी तरह ईश्वर को समर्पित करना। इसलिये भक्तजन प्रार्थना करते समय यह बोलते हैं कि "हे ईश्वर! मैं आपकी कृपा पाने के लिए अपना तन, मन, धन और प्राण भी अर्पण कर

दूँगा, लेकिन मेरा हाथ, मेंरा साथ कभी भी ना छोड़ना।

प्रार्थना का अर्थ यह नहीं है कि आप कर्म छोड़कर मंदिर में बैठे आरती करते रहें, घंटी बजाते रहें और आपकी जगह भगवान परीक्षा भवन में जाकर परीक्षा दे आएंगे या आपके दूसरे कार्य संपन्न कर देंगे। प्रार्थना व्यक्ति को आंतरिक संबल प्रदान करती है, उसे कर्म की ओर उद्यत करने हेतु आंतरिक बल, उत्साह और आशा प्रदान करती है। प्रार्थना व्यक्ति के विचारों एवं इच्छाओं को सकारात्मक बनाकर निराशा एवं नकारात्मक भावों को नष्ट करती है। प्रार्थना करने से मनुष्य भाग्यवादी कभी नहीं बनता। यदि ऐसा होता तो सभी धर्मों के लोग प्रार्थना करना बंद कर देते, या सभी धर्म प्रार्थना के महत्व को नकार देते।

कर्म का स्थान प्रार्थना नहीं ले सकती, प्रार्थना का स्थान कर्म नहीं ले सकता। यदि ऐसा होता तो डॉक्टर ऑपरेशन से पूर्व प्रार्थना से ही काम चला लेता, कि जाओ हो गया ऑपरेशन। प्रार्थना के मूल में यही भाव है कि कर्म तो व्यक्ति को करना ही होगा, किंतु उसके द्वारा किया गया कर्म कभी निष्फल नहीं जाएगा, उसे यथेष्ट फल मिलेगा ही। उस कर्म हेतु उत्साह एवं प्रेरणा उसे प्रार्थना से मिलेगी। विभिन्न धर्मों की पूजा विधियाँ भले ही अलग हों, किंतु प्रार्थना के अंतरस्वर एक ही होते हैं। विश्व के जितने भी महान व्यक्ति हुए हैं, सभी ने कहीं न कहीं ईश्वर से प्रार्थना द्वारा आंतरिक बल प्राप्त किया है। प्रार्थना ईश्वर और मानव के प्रति एकत्व का माध्यम है।

मानव को विवेक की ज़रूरत हर हाल में रहती है। किसी कारण प्रार्थना ना भी कर पाएं या शामिल न हो सकें तो कोई बात नहीं, आप जहां खड़े हैं वहीं उस प्रार्थना के भाव को मन में रख स्मरण कर लें। सबसे पहले हमें इंसान बनना है। सब का भजन करने का अपना-अपना तरीका है। सितार में सातों सुर अलग-अलग होते हैं, लेकिन सातों के मिलने पर सुन्दर संगीत बन जाता है। एक ही सुर रहता है तो उस सितार को सुनने में बड़ा आनंद आता है। हम सब में एक विचित्र बात है। सब ओर देखो, कहीं विष्णु की पूजा हो रही है, तो कहीं गणपति की, तो कहीं देवी की पूजा हो रही है, और कहीं-कहीं कितने ही देवी-देवताओं की पूजा देखने को मिलती है। रूचि अलग अलग है तो भगवान भी अलग-अलग हो सकते हैं। भोजन में रोज रोटी ही खाने को मिले तो दूसरी चीज़ खाने का मन तो करता ही है ना! उसी तरह अलग अलग नामों से परमेश्वर की पूजा चले तो आंनद बढ़ जाता है। परमेश्वर के रूप अनंत है। उसके अनंत नाम हैं। इंसानियत का धर्म किसी को कुछ भी छोड़ने को नहीं कहता। यही हिन्दू धर्म का कार्य है। इस लिए प्रार्थना ज़रूरी है।

****

रामचरित मानस में चित्रित पारिवारिक परिदृश्य

डॉ सुषमा देवी,
एसोसिएट प्रोफेसर, हिंदी विभाग,
बद्रुका कॉलेज, काचीगुडा,
हैदराबाद, तेलंगाना

मानव सभ्यता के विकास में परिवार संस्था का महत्वपूर्ण स्थान है। तुलसीदास की अमर कृति 'रामचरित मानस', आदिकवि वाल्मीकि कृत 'रामायण' के कथानक पर आधारित है। 'रामचरित मानस' मानवता के विकास का मूलाधार है। 'परिवार' सामाजिक संरचना की धुरी होती है। मानव के व्यक्तित्व के विकास में परिवार की भूमिका से सभी अवगत हैं। सृष्टि के सचराचर प्राणियों में मानव की विशिष्ट छवि उसके समग्र व्यक्तित्वोन्नयन के कारण है। मानव के व्यक्तित्व के सम्यक विकास में परिवार नामक संस्था की महत्वपूर्ण भूमिका होती है। अयोध्या नगरी में दशरथ का आदर्श परिवार यथार्थ से इतना भी दूर नहीं है कि उसे समाज व्यवस्था का अंग न बनाया जा सके। तुलसीदास युगदृष्टा कवि थे। वे अपने युगीन समाज के बिखराव को बड़ी बारीकी से देख रहे थे।

जन-भाषा में 'मानस' मानव जीवन की ऐसी प्रकाश किरण है जिससे मानवता सदैव प्रकाशित होती रहेगी। जिस रचना में राजा से लेकर रंक, सभ्य समाज से लेकर जनजातीय संस्कृति तथा देवत्व से लेकर दानवत्व तक को औदात्य के धरातल पर प्रतिष्ठा प्राप्त हो, ऐसे ग्रंथ में शाश्वत मूल्यों का होना सहज है। प्रस्तुत शोधालेख में तुलसीदास कृत 'रामचरित मानस' की इसी पारिवारिक संकल्पना का विवेचन किया गया है। भारतीय सनातन संस्कृति की मान्यता के अनुसार जीवन के चार पुरुषार्थ-धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष हैं। इन पुरुषार्थों को प्राप्त करने में परिवार की महत्वपूर्ण भूमिका होती है। तुलसीदास कृत 'रामचरित मानस' में परिवार की संकल्पना का बड़ा ही सुंदर एवं मनोहारी चित्रण किया गया है। मानव जीवन का परिष्कार पारिवारिक संस्कारों पर ही आधारित होता है। जिस परिवार में त्याग की प्रतिस्पर्धा में सब बढ़–चढ़ कर भागीदारी करने लगें, तो ऐसे समाज को सृष्टि का उन्नयन स्थल मानना सर्वथा उचित है। लोक मंगल की केंद्रीय भावधारा पर आधारित 'रामचरित मानस' मानवता का आख्यान है। मानव जीवन में भाव, भक्ति एवं कर्म की त्रिवेणी का महत्त्वपूर्ण स्थान है। नैतिकता एवं मानवता का ऐसा विन्यास अन्यत्र दुर्लभ है। सत्य, परोपकार तथा त्याग आदि जीवन मूल्यों के द्वारा मानव धरती पर ही स्वर्गिक सुखानुभूति का अधिकारी बन जाता है। शोधालेख का निम्नलिखित उद्देश्य है :-

- भारतीय संस्कृति के मूलाधार परिवार व्यवस्था का चित्रण तुलसी के मानस के माध्यम से व्यक्त करना।
- मानव जीवन के चारों पुरुषार्थों को परिवार संस्था के माध्यम से तुलसीदास ने किस प्रकार संभव बताया है, इसका उल्लेख करना।

- मानव के व्यक्तित्व के विकास में परिवार की भूमिका का अवलोकन करना।
- त्याग, बलिदान की पराकाष्ठा समाज के अस्तित्व के लिए कितना महत्वपूर्ण है, इसे चित्रित करना।
- वर्त्तमान समय में पारिवारिक परिदृश्य के विश्लेषण को प्रासंगिकता के स्तर पर विवेचित करना।

मानव व्यक्तित्व के विकास में 'परिवार' संस्था के योगदान को समस्त चराचर जगत में विशेष माना जाता है। मानव ही नहीं, अपितु जीव-जंतुओं में भी इस संस्था की भूमिका को नकारा नहीं जा सकता है। 'रामचरित मानस' जैसी दिव्य रचना को आधार बनाते हुए इस ग्रंथ पर विविध विद्वानों द्वारा की गई समीक्षाओं को केंद्र में रखा गया है।

'परिवार' संस्था मानव की मूलभूत आवश्यकताओं की पूर्ति का केंद्र होती है। मानव के अब तक के विकास में परिवार की भूमिका को अत्यंत महत्वपूर्ण माना गया है। तुलसीदास के 'रामचरित मानस' को लोक भाषा के माध्यम से त्याग का उत्तम उदाहरण प्रस्तुत करने वाले ग्रंथों में श्रेणीबद्ध किया गया है। जीवन के मूलभूत मूल्यों को पारिवारिक भूमिका में बाँध कर जिस प्रकार तुलसी ने मानस में प्रस्तुत किया है, वह निश्चय ही भारतीय संस्कृति का मन ही है जो भारत ही नहीं, विश्व के अलग-अलग देशों में रचा-बसा हुआ है। एक राज परिवार की कथा राजमहल से होकर वन-प्रांतर तथा उत्तर से दक्षिण भारत तक विस्तार प्राप्त कर रही है। एक ऐसी कथा जो न भूतो न भविष्यति की संकल्पना को स्वयं में समेटे हुए है। मानस केवल अपने युग तक ही सीमित नहीं है, अपितु उसमें चित्रित कथानक देश, काल तथा परिस्थितियों से परे जीवन द्वंद्व में भी स्वच्छ, निर्मल दृष्टिगत हुए हैं। जीवन मूल्य, ज्ञान, भक्ति, सेवा तथा त्याग की ऊँची से ऊँची स्थिति तक पहुँचने के लिए पात्र मानो प्रतिस्पर्धा कर रहे हों। यदि मानस का कथानक मात्र राजा राम का कथानक होता, तो निश्चय ही मानस सार्वभौमिकता की भावना को न समाहित कर पाता। इसमें तो भारतीय संस्कृति के निचोड़ को प्रस्तुत करने की कोशिश की गई है। राजा-प्रजा, स्त्री-पुरुष, बालक-वृद्ध, युवा, देव–दैत्य, वनस्पति, प्रकृति, प्राणी आदि सभी के लिए मानस में अपने लिए कुछ न कुछ अवश्य ही मिल जाएगा। मानस को मानवता का मोती माने तो कोई अतिशयोक्ति न होगी। तुलसीदास ने मानव समाज ही नहीं, अपितु, पशु, पक्षी, वृक्ष, वन, लता, नदी आदि को भी चैतन्यशील बताया है। जब राम अयोध्या से चित्रकूट पर्वत पर पहुँचते हैं, तो राम की उपस्थिति को देख पर्वतराज हिमालय, विन्ध्य पर्वत आदि चित्रकूट और चित्रकूट के जीव-वनस्पतियों का यशोगान करते हैं। तुलसीदास ने अयोध्या काण्ड में इसका सुन्दर चित्रण किया है–

'सैल हिमालय आदिक जेते। चित्रकूट जस गान्वहीं तेते ।

बिन्धि मुदित मन सुन न समाई। खम बिन बिपुल बढ़ाई पाई ।।'

मानस केवल अपने युग तक ही सीमित नहीं है, अपितु उसमें चित्रित कथानक देश, काल तथा परिस्थितियों की धुंध में भी स्वच्छ, निर्मल दृष्टिगत हुए हैं। मानस का केंद्र मनुष्य और

उसकी मनुष्यता का उद्घाटन है। विष्णुकांत शास्त्री के शब्दों में – 'आधुनिक दृष्टि परलोक की चिंता न कर इहलोक में, इसी जीवन को सुखी बनाने के लिए सतत संघर्ष की प्रेरणा देती है। मनुष्य के दुःख, कष्ट के लिए वह भाग्य को नहीं, अज्ञान एवं सामाजिक दुर्व्यवस्था को जिम्मेदार मानती है। तुलसी ने भाग्य और परलोक को स्वीकारते हुए भी उद्योग और इहलोक के महत्त्व को भली भांति प्रतिपादित किया है। सामाजिक दुर्व्यवस्था ....रावणी अत्याचार के विरुध्द संघर्ष उन्हें भी अभीष्ट है, राम-रावण के युध्द के माध्यम से उन्होंने बाहर और भीतर चलने वाले शुभ और अशुभ के द्वंद्व को रेखांकित किया है।

राम कथा मानो परिवार कथा, समाज कथा तक विस्तृत होते-होते भूमंडल कथा तक विस्तार पाने लगी है। 'राम' एक व्यक्ति से ब्रह्मांड तक का विस्तार पाते हैं। राम कथा एक राजा के परिवार की कथा मात्र नहीं है। यदि हम तुलसीदास को मात्र आदर्श के संयोजक के रूप में जानने की कोशिश करते हैं, तो किंचित तुलसी के आधे चरित्र से ही परिचित होते हैं। इस कृति में दशरथ जैसे राजा प्रौढ़ आयु में संतान सुख पाकर खुशियों को सहेजते पिता के रूप में चित्रित हुए हैं। उनकी तीन रानियाँ सौतिया डाह से सर्वथा मुक्त होकर आदर्श की प्रस्तुति करती हैं। परिवार में सबका स्वभाव पृथक होता है। मंथरा द्वारा केयी की विचारधारा को सोखने वाली स्त्री किस प्रकार शांत पारिवारिक वातावरण को नारकीय बना सकती है, इस दृश्य को पाठक पढ़कर व्यग्र हो उठते हैं। 'रामचरित मानस' समन्वय की विराट चेतना पर आधारित है, जहाँ समन्वय का आधार राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक तथा प्राणी मात्र के मध्य संतुलन स्थापित करने की चेष्टा पर आधारित है। साहित्य **सर्वजन हिताय** की चेतना से प्रेरित होता है। मध्यकाल में शैव-वैष्णव मतों में विभाजित भारतीय समाज को एक करने का प्रयत्न तुलसीदास ने बड़ी सहजतापूर्वक किया है। तुलसीदास सांप्रदायिक सद्भाव की स्थापना के लिए सदैव प्रयत्नशील रहते थे। शिव-विष्णु के बीच मैत्री तथा समन्वय का उल्लेख 'रामचरित मानस' के बालकांड, अयोध्याकांड, लंकाकांड तथा उत्तरकांड तक प्राप्त होता है। 'रामचरित मानस' में माता केयी अपने पुत्र भरत से भी अधिक स्नेह राम से करती हैं। परिवार में हर तरह के प्राणी हैं, कोई मंथरा बनकर परिवार की खुशहाली को समाप्त करने का यत्न करता है, तो कोई अपनी शिष्टता से बिखरते परिवार को अपने प्रेम तथा त्याग के द्वारा एक सूत्र में पिरोने का कार्य करता है। केयी के कठोर आदेश पर राम की सौम्यता को मानस के इस पद में देख सकते हैं।

'सुन जननी सोइ सुत बड़भागी, जो पितु मातु वचन अनुरागी ।
तनय मातु पितु तोष निहारा, दुर्लभ जननी सकल संसारा ।।'

सौतेली माता का चित्र हमारे समाज में नकारात्मक रूप में प्रस्तुत किया जाता है। तुलसी ने माता केयी का यथार्थ चित्रण प्रस्तुत किया है। न तो माता केयी को गलत माना, न ही सही। पति-पत्नी संबंधों में जो आत्मीयता होनी चाहिए वह मानस में सर्वत्र देख सकते हैं। दशरथ का अपनी तीनों रानियों के प्रति स्नेह व आदर का उल्लेख सर्वत्र देख सकते हैं। जिस भारतीय इतिहास में राजगद्दी के लिए परिजनों

के रक्त को बहाने का व्यापक तथ्य प्राप्त होता हो, ऐसे इतिहास का स्वर्णिम युग 'रामचरित मानस' में देखा जा सकता है। राम के वन गमन के पश्चात भरत भाई का कर्तव्य निर्वहन करते हुए राम के प्रतिनिधि बनकर जनता का पालन-पोषण करते हैं। भरत स्वयं पर्णकुटी में रहते हुए प्रजा के लिए कल्याणकारी कार्यों में 14 वर्ष व्यतीत करते हैं। लक्ष्मण भाई की सेवा में ही जीवन अर्पण कर देते हैं। पत्नी के कर्तव्य की गरिमा जनक नंदिनी सीता और उर्मिला भी भली-भांति संपन्न करती हैं। सीता राम के साथ वन में रहकर त्याग की कथा बनती है, तो उर्मिला लक्ष्मण की प्रतीक्षा में तपस्विनी बनकर अपनी साँसों को अयोध्या में सास सेवा में अर्पित करती है। परिवार का और कौन सा आदर्श चित्र प्रस्तुत किया जाए? त्याग एवं प्रेम के बिना परिवार की संकल्पना मिथ्या है। आज जहाँ राजनीति में गद्दी के लिए परिवारवाद को बढ़ावा दिया जाता है। मानस ऐसे राजनेताओं के लिए आदर्श की पराकाष्ठा है। समाज के निचले पायदान पर स्थित व्यक्ति के मत को राज परिवार में परिवार से अधिक महत्व दिया जाता है।

जिस समाज में गुरु-शिष्य की स्वस्थ परंपरा हो, उसे आगे बढ़ने से स्वयं विधाता भी नहीं रोक सकते हैं। समाज में स्त्री को सम्मानित स्थान दिए जाने में तुलसी ने कोई कसर नहीं छोड़ी। राम के द्वारा सीता की स्वर्ण हिरण की इच्छा को पूरा करने का कर्तव्य बोध हो अथवा सीता को लंका पुरी से सम्मान सहित वापस लाने के प्रक्रम से भला कौन अनभिज्ञ है। गर्भिणी सीता को वन में भेजने के बाद स्वयं राम अपने एक पत्नी व्रत का आजीवन पालन करते हैं। परिवार में जब परिजन स्वयं से अधिक दूसरों की चिंता करते हैं, तो परिवार में बड़ी से बड़ी विपत्ति भी सहजता के साथ टल जाती है। यदि कोई पूछे कि जनता के हृदय पर सबसे अधिक विस्तृत अधिकार रखने वाला हिंदी का सबसे बड़ा कवि कौन है? तो उसका एक मात्र यही उत्तर ठीक हो सकता है कि **'भारत हृदय भारती कंठ भक्त चूड़ामणि गोस्वामी तुलसीदास।'**

राम से चित्रकूट में भरत मिलने जाते हैं तो वह दृश्य अत्यंत रोचक बन पड़ा है। जिस राम को राजा बनने के स्थान पर संन्यासी बना दिया गया हो,वे शांत, धीर, गंभीर होकर ज्ञान और भक्ति का संतों से श्रवण कर रहे हैं। जीवन में विपरीत स्थिति को भी सकारात्मक दृष्टि के साथ कैसे ज्ञानार्जन के लिए सदुपयोग किया जाए, यह राम के परिवार से सीखा जा सकता है। परिवार के सदस्य एक साथ बैठकर अपने व्यक्तित्व का चहुँमुखी विकास करने का कोई भी अवसर नहीं छोड़ते हैं। यदि दृष्टि सकारात्मक हो, तो जंगल में भी मंगल छा जाता है। 'रामचरित मानस' असंभव को भी संभव करने की अवधारणा का नाम है।

रावण के द्वारा सीता के अपहरण का प्रसंग हमारे समाज में स्त्री की अस्मिता के लिए अति महत्वपूर्ण है। स्त्री की मान रक्षा के लिए मानव के साथ पक्षीराज जटायु तथा समस्त वानर सेना प्राण-प्रण से लग जाते हैं। अंगद रावण के बल, पराक्रम, विज्ञान के विकास की पराकाष्ठा की सराहना करते हुए कहते हैं, जिस समाज में स्त्री की सुरक्षा न हो सके, ऐसे समाज और व्यक्ति का बाली तथा रावण की भाति अंत होना सुनिश्चित है। अंगद स्वयं बाली के पुत्र थे,

किंतु उन्होंने कभी अपने पिता के गलत आचरण का समर्थन नहीं किया। समाज और परिजन के गलत कार्यों के समर्थन का परिणाम विनाश के अतिरिक्त कुछ और हो ही नहीं सकता। वर्तमान युग में 'रामचरित मानस' की प्रासंगिकता अत्यधिक बढ़ गई है। रामराज्य में अमीर-गरीब, वर्ण-भेद, जाति भेद होते हुए भी सामाजिक समरसता में कहीं कमी नहीं आने पाई है। परिवार, समाज में सदैव से विषमता रही है, किंतु विषमता में समन्वय ही उसका समाधान है। यही नहीं, इसमें खल संहार के निमित्त प्रकृति भी रामचंद्र से अनुरोध करते हुए चित्रित्र हुई है-

'एहि सर मम उत्तर तट बासी, हतहु नाथ खल नर अघ रासी ।।'
सुनि कृपाल सागर मन पीरा, तुरंतहि हरी राम रनधीरा ।।'

समुद्र द्वारा दुष्ट वध के लिए पुरुषोत्तम राम से अनुरोध करना इसी ओर संकेत करता है कि जिस समाज में समुद्र तक सचेत है, निश्चय ही ऐसा समाज तथा परिवार सर्वोत्तम बन जाता है।

समाज में नगरीय संस्कृति के विकास के साथ ही आदिवासी संस्कृति के सप्रेम मिलन के पश्चात् ही मानवीयता का प्रस्फुटन होता है। सृष्टि के अनवरत विकास में परिवार की उपादेयता से भला कौन अनभिज्ञ होगा। तुलसी के मानस में मानव को संवेदनशील बने रहने की जो व्यवस्था है, उन्हें हम रामचंद्र शुक्ल के शब्दों में समझ सकते हैं –

''मानव प्रकृति के जितने अधिक रूपों के साथ गोस्वामी जी के हृदय का रागात्मक सामंजस्य हम देखते हैं, उतना अधिक हिंदी भाषा के और किसी कवि के हृदय का नहीं। यदि कहीं सौंदर्य है तो प्रफुल्लता, शक्ति है तो प्रगति, शील है तो दीनता तुलसीदास जी के हृदय में बिंब-प्रतिबिंब भाव से विद्यमान है।'' तुलसीदास की कविता शक्ति की पराकाष्ठा 'रामचरित मानस' है जिसके द्वारा वे मानव को समस्त ब्रह्मांड में सर्वोपरि स्थान प्रदान करके अमर हो गए। 'ईश्वर में पूरी आस्था और मनुष्य का पूरा सम्मान, ये दोनों दृष्टियाँ तुलसी में एक-दूसरे से जुड़ी हुई हैं। **'सिया राम मय सब जग जानी, करहु प्रणाम जोरि जुग पानी'** जैसी पंक्तियाँ इस गहरे आत्मविश्वास पर लिखी जा सकती हैं कि जहाँ ईश्वर और मनुष्य दोनों की एक साथ प्रतिष्ठा हो। 'सिया – राम' यदि उनकी भक्ति के लिए आश्रय स्थल हैं, तो 'सब जग' उनकी रचना कर्म के लिए आवश्यक है।

साहित्य का सृजन समाज हित के निमित्त किया जाता है। आत्मानंद की प्राप्ति के उद्देश्य से लिखा गया साहित्य भी कभी-कभी परहित का कारक बन जाता है। 'रामचरित मानस' में व्यक्ति, परिवार, समाज आदि से ऊपर उठते हुए औदात्य की स्थापना की गई है। मानवता की स्थापना के निमित्त कृतियों में इससे सुंदर उदाहरण अन्यत्र दुर्लभ है।

इस ग्रंथ में परिवार की ऐसी प्रस्तुति हुई है कि मन आत्मविश्रांति की अवस्था को अनुभूत करने लगता है। राम का मानव परिवार, सुग्रीव का वानर परिवार तथा रावण का राक्षस परिवार, ये सभी मानवीय चित्तवृत्ति की विविधता के परिचायक हैं।

****

लोक-साहित्य में पर्यावरण चेतना

गोवर्धन यादव,
103, कोवरी नगर,
छिन्दवाड़ा (म.प्र.)

लोक-साहित्य पढ़ने-लिखने में एक शब्द है, पर वस्तुतः यह दो गहरे भावों का गठबंधन है। "लोक" और "साहित्य" एक दूसरे के संपूरक, एक दूसरे में संश्लिष्ट। जहाँ लोक होगा, वहाँ उसकी संस्कृति और साहित्य होगा। विश्व में कोई भी ऐसा स्थान नहीं है जहां लोक हो और वहां उसकी संस्कृति न हो।

मानव मन के उद्गारों व उसकी सूक्ष्मतम अनुभूतियों का सजीव चित्रण यदि कहीं मिलता है तो वह लोक-साहित्य में ही मिलता है। यदि हम लोक-साहित्य को जीवन का दर्पण कहें तो कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी। लोककथा को लोक-साहित्य का जनक माना जाता है और लोकगीत को काव्य की जननी। लोक-साहित्य में कल्पना प्रधान साहित्य की अपेक्षा लोकजीवन का यथार्थ सहज ही देखने को मिलता है।

लोक-साहित्य हम धरती वासियों का साहित्य है, क्योंकि हम सदैव ही अपनी मिट्टी, जलवायु तथा सांस्कृतिक संवेदना से जुड़े रहते हैं। अतः हमें जो भी उपलब्ध होता है, वह गहन अनुभूतियों तथा अभावों के कटु सत्यों पर आधारित होता है, जिसकी छाया में वह पलता और विकसित होता है। इसीलिए लोक-साहित्य हमारी सभ्यता का संरक्षक भी है।

साहित्य का केन्द्र लोक मंगल है। इसका पूरा ताना-बाना लोक हित के आधार पर खड़ा है। किसी भी देश अथवा युग का साहित्यकार इस तथ्य की उपेक्षा नहीं कर सकता। जहाँ अनिष्ट की कामना हो, वहाँ साहित्य नहीं हो सकता। वह तो प्रकृति की तरह ही सर्वजन हिताय की भावना से आगे बढता है।

संत शिरोमणि तुलसीदास जी की ये पंक्तियाँ" –'कीरत भनित भूरिमल सोई-सुरसरि के सम सब कह हित होई" अमरत्व लिए हुए है। गंगा की तरह ही साहित्य भी सभी का हित सोचता है। वह गंगा की तरह पवित्र और प्रवाहमय है। वह धरती को जीवन देता है, श्रृंगार देता है और सार्थकता भी। प्रकृति साहित्य की आत्मा है। वह अपनी मिट्टी से, अपनी जमीन से जुड़े रहना भी साहित्य की अनिवार्यता समझता है। मिट्टी में सारे रचना कर्म का अमृतवास' रहता है। रचनाकर उसे नए-नए रूप देकर रूपायित करता है। गुरु-शिष्य परम्परा हमें प्रकृति के उपादानों के नजदीक ले आती है।

यहाँ कबीर का कथन प्रासंगिक है-'गुरु कुम्हार शिष्य कुंभ है गढि-गढि काढै खोट-अन्तर हाथ सहार दे बाहर बाहै चोट" संस्कारों से दीक्षित व्यक्ति सभी प्रकार के दोषों-खोटों से मुक्त रहता है। इसमें लोकहित की भावना समाहित है। मलूकदास भी इन्सानियत की परिभाषा अपने

शब्दों में यूं देते हैं-"मलुका सोइ पीर है,जो जाने पर पीर, जो पर पीर न जानही ,सो फकीर बेपीर"। दूसरों की पीड़ा समझने वाला इन्सान पशु-पक्षी का भी अहित नहीं सोच सकता।

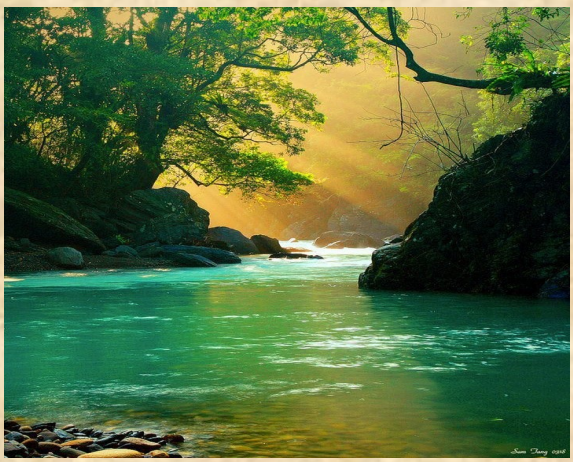

जिज्ञासु व्यक्ति कुछ न कुछ सोचने की चेष्टा करता है। इस प्रकृति के साहचर्य से उसने बहुत कुछ सीखा है। उस काल के वेदज्ञ ब्राहमण चौदह विद्याओं का अध्ययन करना अपना अभीष्ट मानते थे। सोलह कलाओं और चौदह विधाओं के अलावा, वे संगीत, सामुद्रिक, ज्योतिष, वेदाध्ययन काव्य, भाषा शास्त्र, पशु भाषा ज्ञान, तैरना, धातु विज्ञान, रसायन, रत्न परख, चातुर्य एवं अंग विज्ञान आदि अनेक विषयों में गहरी रूचि रखते थे। इस बात के साक्षी हैं पुरातन भारतीय ग्रंथ, जो समय की सीमा को पार कर चुके हैं। मनुष्य के संचित ज्ञान और अनुभव के पहले पुस्तकाकार स्वरूप की याद आते ही दृष्टि स्वयमेव ही वेदों की ओर चली जाती है।

वेद ज्ञान कोष के रूप में सदियों से हमारा साथ देते आए हैं। ऋग्वेद को सृष्टि विज्ञान की प्रथम पुस्तक होने का गौरव प्राप्त है। वेदों की रचना के पीछे जल, अग्नि, वायु, मृदा, ये चारों तत्व ही प्रमुख रूप से काम करते हैं। ऋग्वेद में अग्नि के रूपान्तरण कार्य और गुणों की व्याख्या है। तो यजुर्वेद में विविध रूपों और गुण धर्मों की। सामवेद का प्रधान तत्व जल है, तो अथर्ववेद का पृथ्वी(मृदा) पर केन्द्रित है। पांचवाँ तत्व आकाश तत्व है। सृष्टि की रचना करने वाले उस महान कुंभकार ने इन्हीं पाँचों तत्वों के कच्चे माल को मिलाकर एक ऐसी ही रचना की, जो बेजोड़ है।

हमारी धरती के अस्तित्व का जो आधार है, जिसे भारतीय मेंधा ने भूमि माँ कहकर अभिनन्दन के स्वर अर्पित किए_"माताभूमिः पुत्रोव्है पृथिव्या"। अर्चन-अभिनन्दन के इन् स्वरों में बहुत ही सार्थक भाव-भीना स्वर है। यह वैदिक पृथ्वी समूह मां पृथ्वी की स्तुति का पावन सूत्र, प्रकृति प्रेम की अद्भुत मिसाल, पर्यावरण विमर्श का महत्वपूर्ण घोषणा-पत्र, पर्यावरण प्रतिष्ठा का सारस्वत अनुष्ठान और उसके संरक्षण के लिए समर्पित शिव संकल्प, आसुरी वृत्तियों के अस्वीकरण तथा दैवी वृत्तियों के स्वीकरण का घोषणा-पत्र है। यह पृथ्वी की समस्त निधियों के विवेक सम्मत प्रयोग का आग्रही है। यह प्रेम के लिए नहीं, श्रेय के लिए समर्पित शोध का पक्षधर है। यह सामाजिकता, मंगलमयता में लीन हो जाने का आह्वान है। आज के पर्यावरण संकट की समस्त युक्तियों का एक सूत्रीय समाधान है। बीस कांडों, इकतीस सूत्रों और पांच हजार नौ सौ इकहत्तर मंत्रों का महाकोष है। व्यक्ति सुखी रहे, दीर्घायु प्राप्ति करे, सद्रीति पर चले, पशु-पक्षियों, वनस्पतियों एवं जीव जगत के साथ साहचर्य रहे, इन्हीं कामनाओं से ओत-प्रोत यह अद्भुत ग्रंथ है।

लोक चेतना तो संस्कृति और साहित्य की परिचालक शक्ति मानी जाती है। किन्तु वर्तमान मशीनी और कम्प्यूटरी समाज से लोक-चेतना शून्य होती जा रही है। आज जरूरी है कि साहित्य का मूल्यांकन लोक-जीवन, लोक-संस्कृति की दृष्टि से किया जाना चाहिए। जो लोक-साहित्य लोकजीवन से जुड़ा होता है, वह लोक-साहित्य लोक परम्परा पर आधारित होता है। अतः अपनी प्रकृति में ही विकासशील है। इसमें नित्यप्रति परिवर्तन की संभावना बनी रहती है। इसका सृजन युगपीड़ा एवं सामाजिक दवाब को भी निरन्तर महसूस करता रहता है।

सांस्कृतिक परिस्थितियों का निर्वहन ही सभ्यता कहलाता है। कुछ विद्वान सभ्यता और संस्कृति को एक ही मानते हैं और उनके विचार में सभ्यता और संस्कृति का विकास समान रूप से होता है। काफ़ी गहराई से चिंतन करें तो सभ्यता का ज्यों-ज्यों विकास होता है, त्यों-त्यों संस्कृति का ह्रास होता है। खान-पान, पहनावा सब बदलता जाता है और उसका प्रत्येक पर प्रभाव पड़ता है।

लोक-साहित्य में लोककथा, लोकनाटक तथा लोकगीतों को समान रूप से रखा जा सकता है जिसमें जनपदीय भाषाओं का रसपूर्ण और कोमल भावनाओं से युक्त साहित्य होता है। "मैं तो जिस जनपद में गया, झोलियां भरकर मोती लाया। परलोक की धारणाएँ भी इन्हीं से जुड़ी हैं। सभी कर्मकाण्ड, पूजा-अनुष्ठान तथा उन्नत सांस्कृतिक समाज में मनुष्य के आचरण का निर्धारण इसी लोक में होता है। लोक हमारी सामाजिकता की गंगोत्री है और सभ्यता का प्रवेश द्वार भी। भारतीय जनमानस को श्रीमद्भगवद्गीता ने जितना प्रभावित किया, उतना शायद किसी अन्य पुस्तक ने नहीं किया। वैष्णवी तंत्र ने गीता की जो व्याख्या की है, उसमें प्रतीक के रूप में पशु-जीवन का महत्व प्रतिपादित होता है।

'सर्वोपनिषदो गावो दोग्धा गोपाल नन्दनः''

अर्थात् उपनिषद् गाय है, कृष्ण उनको दुहने वाले हैं, अर्जुन बछड़ा है और गीता दूध है। गीता में प्रकृति को ईश्वर की माया के रूप में दर्शाया गया है। गीता के कुछ श्लोकों के अर्थ को रेखांकित किया जा सकता है।

इनमें भगवान कृष्ण कहते हैं कि जो तेज सूर्य और चन्द्रमा में है, उसे मेरा ही तेज मानों। मैं ही पृथ्वी में प्रवेश करके सभी भूत-प्राणियों को धारण करता हूँ। चन्द्रमा बनकर औषधियों का पोषण करता हूँ। जठराग्नि बनकर प्राणियों की देह में प्रविष्ट हूँ। प्राणवायु-अपानवायु से संयुक्त होकर चारों प्रकार से भोजन किए हुए प्राणियों के अन्न को पचाता हूँ। संपूर्ण भूतों (प्राणियों) के ह्रदय में निवास करता हूँ। श्रीकृष्ण ने अपनी प्रकृति को अष्टकोणी बताया है।

इसमें पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु एवं आकाश के साथ-साथ मन-बुद्धि एवं अहंकार की गणना भी की गई है। अपनी बाल-लीलाओं के माध्यम से उन्होंने जो दिव्य संदेश दिया, उसका व्यापक प्रभाव लोक जीवन तथा लोक परम्पराओं पर पड़ा। उस दिव्य संदेश के पीछे तात्पर्य यह था कि वनस्पति, नदियां, पहाड़, पशु-पक्षी, जलचर और मनुष्य सभी इस प्रकृति के अंगीभूत स्वरूप

हैं और सबका रक्षण,पोषण और विकास जरूरी है।

त्योहारों के इतिहास में हमारे देश की संस्कृति और सभ्यता में सारे त्योहार ऎसे हैं जो प्रकृति की गोद में और प्रकृति के संरक्षण में मनाए जाते हैं। जैसे - गोवर्धन पूजा, आवंला पूजन, गंगा सप्तमी, माह कार्तिक में तुलसी पूजन आदि।

ये सभी पर्व हमें अपनी प्राकृतिकता से सह-संबंधों की परम्पराओं की याद दिलाते हैं। ऐसे पर्व जो प्रकृति के विभिन्न घटकों को पूजने के दिन के रूप में मनाए जाते हैं, उन्हीं पर्वों के अवसर पर सम्पन्न क्रिया–कलाप और समारोह प्रकृति-प्रेम एवं प्रकृति के प्रति संवेदनशीलता का नया वातावरण हमें प्रदान कर पर्यावरण को शुद्ध रखने के लिए उत्प्रेरित करते हैं। प्रकृति घटकों के सह-सम्बन्ध हमें नई उमंग और प्रकृति प्रेम के प्रति नए उत्साह का अनुभव कराते हैं।

विभिन्न तथ्यों एवं लोक जीवन की शैली के आधार पर निष्कर्ष में कह सकते हैं कि वृक्ष हमारी संस्कृति के विभिन्न अंग रहे हैं। भारत कृषि प्रधान देश है। अतः मृदा का संरक्षण आवश्यक है।

प्राकृतिक अवस्था में मैदानी एवं पहाड़ी स्थानों पर लगे वृक्षों की जड़ें जमीन को पकड़े रहती हैं, जिससे पानी का प्रवाह एवं हवा संतुलित रहती है। वृक्षों के अभाव में हवा एवं पानी पर नियंत्रण नहीं रहने से भूमि के रेगिस्तान में परिवर्तित होने की प्रबल संभावनाएं बनती जा रही हैं। वनों की कटाई न करने के प्रति जन चेतना फ़ैलाने के उद्देश्य से आंदलनों को शुरु किया जाना चाहिए।

संस्थाओं में अध्ययनरत बालक-बालिकाओं को परम्परागत भारतीय शिक्षा प्रदान की जानी चाहिए। पूर्व की पीढ़ियों ने अपने समय में प्रकृति का पूर्ण विकास कर उनको भौतिक संपत्ति के रूप में बदलकर अगली पीढ़ियों को प्रदान किया है, और यह माना है कि आने वाली पीढ़ी उन पूर्वजों का उपकार मानेगी, लेकिन वर्तमान पीढ़ी तो भावी मानव के लिए जटिल समस्याएं और प्रकृति के विध्वंस का आधार छोड़ कर जाने की संभावनाएं बना रही है।

आज रेगिस्तान बढ़ रहे हैं। जीव-जंतुओं की बहुत सी प्रजातियाँ लुप्त हो रही हैं। प्रकृति का दोहन वर्तमान और भावी आवश्यकताओं को ध्यान में रखते हुए तथा साथ ही इसके संरक्षण के लिए उपाय करते हुए किया जाना चाहिए।

****

'अखंडं सच्चिदान-दमवाड्.मनसगोचरम् ।

आत्मानमखिलाधारमाश्रयेडभीष्टासिद्धये।।'

अर्थ- ब्रहम सत्, चित्त आनन्द है। सत् का अभिप्राय है त्रिकालाबाधित पदार्थ जो भूत, वर्तमान तथा भविष्य सभी कालों में विराजमान है। ब्रहम प्रत्येक अवस्था, प्रत्येक काल में विकारहीन एवं नित्य है और नित्य प्रबुद्ध तथा पूर्ण होने से आनन्दवर्धक है।

- **(सदानन्दयोगीन्द्र वेदान्त सार 01)**

शबरिमला तीर्थयात्रा: तत्त्वमसि खोज की तीर्थयात्रा

डॉ. सी. जे. प्रसन्न कुमारी,
गुरुवरम हाउस न. 40,
कैरली नगर, कुरवनकोणम,
क्वडियार पी.ओ., तिरुवनंतपुरम, केरल

प्रकृति माँ का अनुग्रह प्राप्त केरल अनेक तीर्थ स्थलियों, पर्यटन स्थलियों से मंडित है। श्री पद्मनाभ नगरी-तिरुवनन्तपुरम, गुरुवायूर मन्दिर नगरी और शबरिमला केरल की विश्व प्रसिद्ध तीर्थ स्थलियाँ हैं। केरल का एक पहाड़ी जिला पत्तनमतिट्टा में स्थित शबरिमला पश्चिमीघाट (सह्याद्रि) के बाघ अभ्यारण्य का हिस्सा है। रामायण में वर्णित शबरी पीठ और शबरी आश्रम यहाँ हैं। कहा जाता है कि शबरी का देहत्याग भी यहीं हुआ था। सीतान्वेषण के समय यहीं शबरी से श्री रामचन्द्र जी की भेंट हुई थी। पश्चिमी घाट के इस जैव वैविध्य केन्द्र को ज्यों का त्यों बनाए रखना पारिस्थितिक संतुलन के लिए अनिवार्य है।

समुद्रतल से 480 मीटर की ऊँचाई पर अठारह पहाड़ों से घिरा अठारह सोपानवाला मन्दिर है शबरिमला मन्दिर, जो पुण्यनदी पंपा के उद्भव स्थान के निकट स्थित है। कहा जाता है कि शबरिमला के चारों ओर के हर पहाड़ में पहले मन्दिर विद्यमान थे। निलक्कल, कालकेट्टी और करिमला के मन्दिर अब भी हैं। अतः अठारह पहाड़ों में स्थित पहाड़ी देवताओं के मध्य विराजित हैं कलियुग वरदाता भगवान अय्यप्पन या धर्म शास्ता। ऐसी भी किंवदन्ती है कि केरल की रक्षा के लिए द्वारा स्थापित शबरिमला मन्दिर की मूर्ति धर्म शास्ता में अय्यप्पन का विलय हुआ था। कुछ लोगों के अनुसार भगवान अय्यप्पन पंपातट के बौद्ध भिक्षु हैं। ऐसी भी किंवदन्ती है कि अपने हड़प लिए गए पन्तळम राज्य को वापस लेने में वावर स्वामी की मदद उन्हें मिली थी। ज्यादा प्रचलित कथा के अनुसार योद्धा अय्यप्पन पन्तळम नामक सामंती राज्य के राजा का गोद लिया पुत्र था। शैव-वैष्णव समन्वय के फलस्वरूप जन्मा शिशु था अय्यप्पन। ऐसी भी कथा है कि अय्यप्पन महिषी वध के लिए अवतरित भगवान हैं। कुछ लोगों के अनुसार वावर एक डाकू था जिसे अय्यप्पन ने पराजित किया था।

ऐसा भी कहा जाता है कि वावर अरब देश से आया इस्लामिक संत था, जिसने भगवान के लक्ष्य की पूर्ति में मदद की थी। जो भी हो, वावर-अय्प्पयन की कथा केरल के सांप्रदायिक सद्भाव की कहानी है, सांप्रदायिक मैत्री की कहानी है। अय्यन का शाब्दिक अर्थ है 'जो श्रेष्ठ हो'। ब्राह्मण बच्चों को 'अप्पन' कहते हैं। फिर पिता को भी 'अप्पन' पुकारते हैं। इन दोनों शब्दों का समन्वय है अय्यप्पन। 'अय्यन' शब्द का दूसरा अर्थ है बौद्धभिक्षु। शबरिमला की प्रतिष्ठा भगवान अय्यप्पन की है। मुद्रा पहने भक्त को भी

अय्यप्पन पुकारा जाता है। इसका सन्देश है कि भक्त और भगवान एक हैं, भिन्न नहीं हैं।

जैसा कि मैंने बताया कि सह्याद्रि के मध्य में स्थित शबरिमला दक्षिण भारत का ख्याति प्राप्त तीर्थाटन केन्द्र है। नवंबर - जनवरी के बीच की अवधि ही शबरिमला तीर्थाटन का समय है। मलयाळम महीना वृच्छिकम की एक तारीख से मकरम महीने की पाँच तारीख तक के इस समय को मलयाळी मंडल काल कहते हैं। किंवदन्ती है कि शबरिमला तीर्थाटन का जो मौजूदा अनुष्ठान या नियम है, वह भी स्वयं भगवान अय्यप्पन द्वारा बनाया गया था। अन्य मंदिरों के समान यहाँ सीधे तीर्थाटन नहीं हो सकता। इकतालीस दिन का व्रतानुष्ठान, विशेषत: ब्रह्मचर्य पालन, मुद्रा पहनना (तुलसी या रुद्राक्ष की माला पहनना), इरुमुटि की गठरी और नीला या काला वस्त्र तीर्थाटक के लिए अनिवार्य है।

इकतालीस दिन के व्रतानुष्ठान के बाद का शबरिमला तीर्थाटन तो तत्वमसि की खोज की यात्रा है। पाप-पुण्य की गठरी 'इरुमुटि' सिर पर रखकर नंगे पाँव पहाड़ पर चढकर अय्यप्पन दर्शन हर तीर्थाटक का सान्निध्य स्वप्न है। 'इरुमुटि' के बिना भक्त देव सान्निध्य से युक्त मन्दिर के अठारह सोपान चढ़ नहीं सकता। इरुमुटि में घी भरा नारियल, पोहू, गुलाब जल, चन्दन,फूल, अगरबत्ती, कपूर जैसी पूजा सामग्रियाँ होती हैं। इस द्रविड़ मन्दिर शबरिमला के अनुष्ठानों की बौद्धों के अनुष्ठानों के साथ कुछ समानताएँ हैं। इरुमुटि बांधकर और उसे सिर पर रखे हुए हर अय्यप्पन (भक्त) बौद्ध धर्मानुयायियों के समान ऊँचे स्वर में एक साथ मिलकर 'अय्यप्पन शरणम्, स्वामी शरणम स्वामिए! अय्यप्पा' मंत्रोच्चारण के साथ संग-संग पहाड़ चढते हैं। शबरिमला में हरिहर पुत्र अय्यप्पन की मुख्य प्रतिष्ठा के साथ माळिकप्पुरत्तम्मा, गणपति, वावर स्वामी, करुत्तस्वामी, वलिय करुत्तस्वामी, नवग्रह, नागदेवता आदि उपदेवता भी विराजित हैं।

मंडल पूजा, मकर विळक्कु और पैंकुनी उत्सव शबरिमला के प्रमुख आचार अनुष्ठान और त्योहार हैं। मंडलकाल के प्रमुख अनुष्ठान हैं मंडलपूजा और मकर विळक्कु। मलयाळम महीना वृच्छिकम एक से इकतालीस दिन की पूर्ति यानी मलयाळम महीना धनु की ग्यारहवीं तिथि में मंडल पूजा होती है। मंडल पूजा के दिन सोने की अंकी (मुखावरण) पहनाकर भगवान अय्यप्पन की दीपाराधना होती है। यह मुखावरण 420 अशर्फियों से बना है। तिरुवितांकूर के अंतिम महाराज श्री. चित्तिर तिरुनाळ बालरामवर्मा द्वारा सन् 1973 में भगवान को किया गया था यह मुखावरण। इसका रखरखाव तो आऱनमुळा पार्थसारथी मंदिर में होता है। यह तो नौका खेल और नौका दावत से जुडा प्रसिद्ध ऐतिहासिक मन्दिर है। भौम सूचिका में स्थान प्राप्त आऱनमुळा आइना भी आऱनमुळा की ख्याति एवं गौरव का आधार है। पार्थसारथी मन्दिर से रथ शोभा यात्रा के साथ यह मुखावरण मंडल पूजा के दिन शबरिमला पहुँचाया जाता है। मंडल पूजा के दिन अंकी पहनाने के बाद वह अंकी फिर आऱनमुळा ले जाया करते हैं। वापसी में रथ शोभा यात्रा नहीं होती। सीधे मोटरगाड़ी में ले जाते हैं।

मंडल पूजा के बाद तीन चार दिन बन्द रहने वाला मन्दिर, फिर मकर विळक्कु (मकरदीप) के

लिए खुलता है। नैनार मस्जिद की चन्दनक्कुटम शोभा यात्रा, पेट्टतुळ्ळल (संघ नृत्य), तिरुवाभरण की शोभा यात्रा, दीपाराधना, मकरज्योति दर्शन आदि मकरविळक्कु के मुख्य अनुष्ठान हैं।

मकरविळक्कु से जुड़ा प्रथम प्रमुख अनुष्ठान है एरुमेलि चन्दनक्कुटम शोभा यात्रा। यह शोभा यात्रा धनु महीने की 26 तिथि यानी पेट्टा तुळ्ळल के पिछले दिन संध्या में एरुमेलि वावर नैनार मस्जिद प्रांगण से शुरु होती है जोकि सांप्रदायिक मैत्री का त्योहार है। केरल के हिन्दू, मुस्लिम और ईसाई लोग एकजुट होकर चन्दनक्कुटम शोभा यात्रा में भाग लेते हैं। वावर मस्जिद से शुरु होकर एरुमेलि धर्मशास्ता मन्दिर (वलियम्पलम) और पेटा चौराहे का शास्ता मंदिर (कोच्चम्पलम) के दर्शन के बाद बड़े सवेरे यह शोभा यात्रा वावर मस्जिद में वापस आती है और यहीं समाप्त होती है। यह शोभा यात्रा धार्मिक मैत्री के सन्देश के साथ जनशक्ति के महत्व का संदेश भी देती है। शोभा यात्रा के साथ कावटि नृत्य, मोर नृत्य, चेंड़ा और अन्य लोककलाएं व नृत्य आदि भी होते हैं। मणिमलयार के तट पर स्थित एरुमेलि शबरिमला से पच्चास मील दूरी पर स्थित गाँव था। अब वहां एक छोटा शहर सा है। यह कोट्टयम जिले में है जो शबरिमला का मुख्य प्रवेश द्वार है।

चन्दनक्कुटम शोभा यात्रा के अगले दिन पेट्टतुळ्ळल अनुष्ठान का शुभारंभ होता है। माना जाता है कि महिषी वध के बाद भगवान अय्यप्पन के भूतगणों का आनंद नृत्य है यह पेट्टतुळ्ळल। ऐसा भी कहा जाता है कि महिषी वध के बाद भगवान वावर को साथ ले कर भूतगणों के साथ शबरिमला के लिए प्रस्थान किया था। इसकी स्मृति में पेट्टतुळ्ळल मनाया जाता है। पेट्टतुळ्ळल की शुरुआत भी एरुमेलि शहर से होती है। परम्परा से पेट्टतुळ्ळल के दो दल हैं। वे हैं अम्पलप्पुळा संघ और आलंङ्ङट्ट संघ। अब देवस्वम और सरकार की भी इसमें भागीदारी है। पहले अम्पलपुळा दल का पेट्टतुळ्ळल शुरु होता है, क्योंकि भगवान की मातृ स्थानीयता के महत्व से वे अलंकृत हैं। आकाश में कृष्णबाज की प्रदक्षिणा और दर्शन के बाद साढे ग्यारह बजे अनुष्ठान शुरु होता है। यह कृष्णबाज अंपलप्पुळा श्रीकृष्ण स्वामी के सान्निध्य की सूचना देता है। यहाँ भी शैव-वैष्णव समन्वय सन्देश है। अंपलप्पुळा से एरुमेलि पहुँचे दल तालमेल, तीन हाथी और आनंद नृत्य के साथ चौराहे के शास्ता मन्दिर (कोच्चम्पलम) से निकलता है। दल सीधे नैनार मस्जिद की ओर जाता है। वहाँ जमाअत अध्यक्ष फूलों की वर्षा के साथ शोभा यात्रा की अगवानी करता है। मस्जिद से वावर स्वामी का प्रतिनिधि संघ में शामिल होता है। संघ आनंद नृत्य करते हुए पहले वलियम्पलम की ओर जाते हैं, फिर वलियम्पलम से शबरिमला की ओर।

आलंङ्ङट संघ आलुवा के गणपति धर्म शास्ता मंदिर से यात्रा शुरु करके बीच-बीच के मन्दिरों में पड़ाव डालकर एरुमेलि पहुँचते हैं। इस दल का पेट्टतुळ्ळल मध्याह्न के बाद साढ़े तीन बजे आकाश में शुभ्र नक्षत्र के उदय के बाद शुरु होता है। यह दल वावर मस्जिद की ओर नहीं जाता। विश्वास है कि वावर स्वामी पहले अम्पलप्पुळा दल के साथ शबरिमला के लिए प्रस्थान कर चुके हैं। ये लोग आनंद नृत्य के

साथ करिमल चढकर परम्परागत कानन पथ से होकर शबरिमला की ओर जाते हैं।

मकर संक्रान्ति के दिन 'तिरुवाभरण' से विभूषित भगवान की दीपाराधना मकरविळक्कु का सबसे प्रमुख अनुष्ठान है। भगवान अय्यप्पन के लिए उनके पिता पंतळम के राजा द्वारा बनवाया गया आभूषण है 'तिरुवाभरणम'। कहा जाता है कि राजा उन्हें अपना उत्तराधिकारी बनाना चाहते थे। मकरविळक्कु के पहले पन्तळम के साम्रिक्कल राजमहल में सुरक्षित रखा तिरुआभरण (भगवान के आभूषण) शोभा यात्रा के साथ शबरिमला ले जाया जाता है। इसे 'तिरुवाभरण शोभा यात्रा' नाम से अभिहित किया जाता है। धनु महीने के तारीख 28 (अट्ठाइस) के दिन पन्तळम से इस शोभा यात्रा का श्रीगणेश होता है।

भगवान के पिता के प्रतिनिधि के रूप में अब भी पन्तळम राजा का प्रतिनीधि शोभा यात्रा का अनुगमन करता है। तीन पेटियों को में सुरक्षित आभूषण पहले पन्तळम राजमहल परिवार के चेरि़य कोयिक्कल शास्ता मन्दिर में भक्तों के लिए प्रदर्शित किया जाता है। इन तीन पेटिकों सिर में लादनेवाले तो व्रत लिए बाइस भक्त हैं। राजा उनको आशीष देता है और कोइक्कल शास्ता मन्दिर में पूजा में रखी तलवार लेकर उस राज प्रतिनिधि को प्रदान करता है जो तिरुवाभरण का अनुगमन करता है। तिरुमुखवाली मुख्य पेटी स्वयं गुरु स्वामी सिर पर उठा लेता है। शोभा यात्रा शरंकुत्ती पहुँचने पर देवस्वम अधिकारी अगवानी करते हैं। पन्तळम से शुरु होने वाली यह तिरुवाभरण शोभा यात्रा बीच-बीच में पड़ाव डालकर परंपरागत कानन पथ से पैदल यात्रा करके तीसरे दिन शाम को (मकरविळक्कु दिन) शबरिमला पहुँचती है। सन्निधान में मुख्य पुजारी और तंत्री दोनों मिलकर तिरुवाभरण स्वीकार करते हैं। मुख्य पेटक श्रीकोविल में तथा दूसरा और तीसरा मणिमंडप में रखा जाता है। ये तो अभिषेक पेटक और पताका पेटक हैं। मकर विळक्कु के दिन तिरुवाभरण (तिरु आभूषण) से भगवान को विभूषित करके दीपाराधना होती है। मकर सक्रमण पूजा के पहले कवडियार राजमहल से लाये गये घी से भगवान का अभिषेक भी एक परंपरागत अनुष्ठान है। मकर संक्रम पूजा के अवसर पर दूर पोन्नंम्पलमेट के पुराने मंदिर (खण्डहर) में कपूर दीपाराधना होती है। इस दीप को मकरज्योति कहते हैं। शबरिमला सन्निधान से मकरज्योति का दर्शन हो सकता है। यह दीप जलाने का अधिकार परंपरा से मलयरयन नामक आदिवासी जनता को प्राप्त है।

शबरिमला अय्यप्पन भगवान का मूलस्थान है मणिमंडप। इसे भगवान अय्यप्पन की समाधि स्थली भी कहते हैं। किंवदंती है कि यहीं भगवान अय्यप्पन का शास्ता मूर्ति में विलय हुआ था। माळिकप्पुऱत्तम्मा मन्दिर के गर्भगृह के पीछे स्थित मणिमंडप में मकर दीप से जुडे कळमेळुत्त और पाट्टु (गीत गायन) का आयोजन होता है। मकरविळक्कु के बाद के ये सारे अनुष्ठान राज प्रतिनिधि की उपस्थिति में संपन्न होते हैं। कळमेळुत्तु और पाट्टु अनुष्ठान परम्परा से एक परिवार के उत्तरदायित्व में चलता रहता है। माळिकप्पुरम के मणिमंडप में पाँच दिन के कळमेळुत्त होते हैं। मकरविळक्कु के दिन दीपाराधना के बाद कोळमेळुत्त का आयोजन शुरु

होता है। इस कळमेळुत्त में हर दिन भगवान के विविध रूप क्रमश: बाल रूप, युद्धवीर, राजकुमार शास्ता, बघ वाहन अय्यप्पन और अंतिम दिन तिरुवाभरण से विभूषित मणिकंठन स्वामी के रूप का अंकन होता है। कळमेळुत्तु की खासियत है कि प्रकृति से प्राप्त रंगों का ही इस्तेमाल करते हैं। उत्तरायण काल के आरंभ में शुरु होने वाले इस कळमेळुत्तु के प्रथम चार दिनों में मणिमंडप से अठारह सोपानों के नीचे तक भगवान की शोभा यात्रा पहुंचती है। यह शोभा यात्रा पहले अम्पलप्पुळा दल द्वारा अनुगमित होती है। पाँचवें दिन की शोभा यात्रा शरंकुत्ति तक जाती है। उस दिन युद्धवीर भगवान को पन्तळम राजमहल से लाये वीर योद्धा का मुखावरण पहनाता है। राजमहल से लायी दो पताकाएँ मणिमंडप की अर्चना के बाद भगवान के युद्धवीर रूप का अनुगमन करती हैं। पताकाओं के आगे भगवान पधारते हैं। पहले चार दिन नायाट्टुविळि (शिकार आह्वान) नामक आचार अठारह सोपान के नीचे होता है। नायाट्टुविळि शबरिमला एक विशिष्ट अनुष्ठान है।

यह तो अय्यप्पन चरित के काव्य रूप का गायन है। अंतिम दिन नायाट्टुविळि के बाद भगवान धनुष, बाण सब शरंकुत्ति में छोड़ते हैं। फिर तालमेल और मशाल के साथ जो शोभा यात्रा शरंकुत्ति पहुँचती है, उसकी निशब्द वापसी होती है। ऐसा भी माना जाता है कि तीर्थाटन के समापन पर भगवान भक्तों से शरमकुत्ति में विदा लेते हैं। विदा लेकर भगवान के मणिमंडप पर वापस आने पर वहीं गुरुति के साथ अनुष्ठान की समाप्ति होती है। गुरति के बाद भक्तों के लिए श्रीकोविल के भगवान का दर्शन साध्य नहीं। अगले दिन सवेरे केवल राज प्रतिनिधि को ही भगवान के दर्शन का अधिकार है। सारे अनुष्ठानों की समाप्ति पर मुख्य पुजारी भगवान को भस्माभिषिक्त कराके जपमाला पहनाता है। फिर योगदंड पकड़वाकर ध्यान मुद्रा में बिठाता है और अंत में 'हरिवरासनम गीत गाकर मंदिर बंद करवाता है। यहीं एक मंडलकाल की इतिश्री होती है।

पुरानी प्रथा के अनुसार मुख्य पुजारी मन्दिर की चाबी राजा प्रतिनिधि को समर्पित करता था। लेकिन अब अठारह सोपानों के नीचे राज प्रतिनिधि चाबी मुख्य पुजारी को वापस देता है। इसके पहले ही तिरुवाभरण वाहक लोग 'तिरुवाभरण लादकर शरणमंत्र के साथ अठारह सोपान उतर गये होंगे। यहाँ परंपरागत कानन पथ से होकर तिरुवाभरण शोभा यात्रा की वापसी शुरु होती है। वापसी की एक खासियत है कि रास्ते में मकरम 7 तारीख में पेरिनाट के कक्कनाट कोइक्कल मंदिर में तिरुवाभरण का प्रदर्शन होता है। इस मंदिर के भगवान अय्यप्पन के विग्रह में उन्हें तिरुवाभरण पहनाकर दीपाराधना होती है। शबरिमला मंदिर की सबसे मुख्य और विशेष पूजा है पटिपूजा (अठारह सोपानों की पूजा)। भगवान के पहरेदार बने अठारह पहाडों के देवताओं की प्रीति के लिए की जानेवाली पूजा है यह। अठारह सोपानों को पुष्पों से अलंकृत करके दीप जलाकर आराधना होती है। पुराने ज़माने में बारह साल में एक बार सोपानों की पूजा होती थी। अब प्राय: साल में एक बार पटिपूजा होती है।

शबरिमला के दस दिन के उत्सव को पैंकुनी उत्सव कहते हैं। यह तो मलयाळम

कुंभम-मीनम महीने में मनाया जाता है। पळ्ळिवेट्टा (भगवान का शिकार) और पळ्ळिआराट (तिरुस्नान) इससे संबंधित प्रमुख अनुष्ठान हैं। उत्सव के शुभारंभ में पताका फहराते हैं और समाप्ति पर झंड़ा उतारना भी अनुष्ठान का भाग है। यहाँ तलवार पकड़े कुरुप्प, मन्दिर की कार्यकारिणी समिति के सदस्य, भगवान को सुरक्षा देते हुए शरंकुत्ति की ओर-आगे जाते हैं। उनके पीछे हाथी के ऊपर भगवान का तिडंब (शोभा यात्रा का विग्रह) शरंकुत्ति ले जाते हैं। शिकार के अगले दिन तिरुस्नान होता है। इस उत्रम महोत्सव भी कहते हैं। कुंभम महीने का उत्तम नक्षत्र भगवान का जन्मदिन है। दस दिन के उत्सव के बाद मंदिर बंद होता है।

तिरुवितांकूर देवस्वम बोर्ड के अधीनस्थ शबरिमला मंदिर में नित्यपूजा नहीं। वृच्छिकम 1 से मकरविळक्कु काल तक मंदिर प्राचीनकाल से खुलता रहता है। अब तो हर मलयाळम महीने के प्रथम पाँच दिन, चित्तिरा आट्टविशेषम (नवंबर 5) और मलयाळम तुलाम महीने के चित्रा नक्षत्र के दिन में, फिर दीपावली, विषु,तिरुवोणम जैसे विशेष अवसरों पर मंदिर खुलता है। सन् 1821 में पंतळम राज्य तिरुवितांकूर से जोड़ा गया था। 5 नवंबर सन् 1946 को तिरुवितांकूर के तत्कालीन महाराजा चित्तिर तिरुनाळ बालरामवर्मा ने प्रथम बार सपरिवार शबरिमला के दर्शन किये थे। उसी की स्मृति में यह दिन चित्तिरा आट्ट विशेषम नाम से अभिहित किया गया। तुलाम महीने का चित्तिरा नक्षत्र तो चित्तिरतिरुनाळ महाराजा का जन्मदिन है। यद्यपि दस और पचपन साल के बीच की स्त्रियों के लिए प्राचीनकाल से इस मन्दिर का दर्शन साध्य नहीं है, हर साल तीन करोड़ से ज़्यादा भक्त यहाँ तीर्थाटन के लिए आते रहते हैं। विश्व में किसी भी आराधना स्थली में शायद इतनी भीड़ नहीं होगी। मंदिर की आय इतनी ज़्यादा है कि देवस्वम के सारे मंदिरों के कर्मचारियों के वेतन का प्रमुख हिस्सा यहीं से प्राप्त हुए धन से होता है। शबरिमला तीर्थाटन काल केरल और तमिलनाडु के कई लोगों की आजीविका का आधार है। छोटे-बड़े व्यापारी, कोट्टयम चेंङ्ङन्नूर इलाके के टैक्सीवाले, ट्राली वाले, होटल वाले, डंडा बेचने वाले, सुगंधित व्यंजन बेचने वाले, बिसाती लोग, वाद्यमेल कलाकार,लोक कलाकार, फूल बेचने वाले, खिलौने बेचने वाले सब ढाई महीनों में साल भर के लिए ज़रूरी चीज़ें इकट्ठा करते हैं। इस हाइटेक युग में शबरिमला दर्शन ज़्यादा कठिन कार्य नहीं, सुविधाएँ ज्यादा हैं। पुराने ज़माने में बीच-बीच में जंगल में पड़ाव डालकर,खाना पकाकर पहाड़ चढकर जाने वाले भक्तों के लिए अय्यप्पन दर्शन के साथ बाघों का दर्शन भी एक सहज स्वाभाविक घटना थी।

अब सारे विश्व में अय्यप्पन सेवा समितियाँ हैं। विश्व के कोने-कोने में भगवान अय्यप्पन के मन्दिर हैं, चाहे मुख्य देवता के रूप में हों या उपदेवता के रूप में। असहिष्णुता एवं धार्मिक, सांप्रदायिक अन्धता के इस युग में धार्मिक मैत्री की विशालता, सहभाव,सद्भाव की गरिमा एवं महत्व की याद दिलाने वाला यह तीर्थाटन काल तत्वमसि की खोज की यात्रा है, यानी, शबरिमला तीर्थाटन अवश्य भक्त के मन का मालिन्य दूर कर उसे भगवान की ऊंचाई तक पहुँचा देता है। उसके लिए मानसिक रूप से भगवान जैसा निर्मल बनने का सुअवसर है यह तीर्थाटन।

"हिंदी का वैश्वीकरण और भविष्य की चुनौतियां-कुछ भाषायी समाधान''

शिव कुमार निगम
द्वितीय सचिव (हिंदी, शिक्षा और संस्कृति),
भारतीय उच्चायोग, पोर्ट ऑफ स्पेन,
त्रिनिदाद और टोबैगो (वेस्ट इंडीज़)

हिंदी का वैश्वीकरण एक ऐसा मुद्दा है जिस पर हम भारतीय पिछले कुछ दशकों से कई मंचों पर चर्चा करते आ रहे हैं और अब तो भारत दुनिया भर में भाषायी मक्का के रूप में जाना जाता है। जॉर्ज अब्राहम ग्रियरसन ने वर्ष 1928 में प्रकाशित अपने भारत के भाषायी सर्वेक्षण (एलएसआई) में उल्लेख किया था कि दक्षिण एशिया में 364 भाषाएं और बोलियां मौजूद हैं। वर्ष 2011 की जनगणना के अनुसार भारत में उन्नीस हजार पाँच सौ से अधिक भाषाएं और बोलियां मातृभाषाओं के रूप में बोली जाती हैं और 121 भाषाएं तो ऐसी हैं जिन्हें दस हजार या उससे अधिक लोग बोलते हैं। हिंदी इनमें से सर्वाधिक बोली जाने वाली भाषा है। विश्व भर में सात सौ मिलियन से अधिक लोग हिंदी बोलते हैं, जिनमें से पाँच सौ अट्ठाइस मिलियन से अधिक लोग इसे प्रथम भाषा के रूप में, एक सौ उन्चालीस मिलियन से अधिक लोग द्वितीयक भाषा के रूप में और चौबीस मिलियन से अधिक लोग तृतीयक भाषा के रूप में हिंदी बोलते हैं। फिर भी भारत सरकार ने बड़ी कुशलता का परिचय देते हुए और महाद्वीपीय आकार वाले विविधतापूर्ण राष्ट्र में अंग्रेजी का उपयोग संपर्क भाषा के रूप में करते हुए संविधान की आठवीं अनुसूची में 22 भाषाओं का समावेश किया है। परन्तु मुझे लगता है कि इन भाषाओं में हिंदी की स्थिति सबसे बेहतर है। चूंकि विश्व स्तर पर भी इसे तेजी से अपनाया जा रहा है।

भाषा और उसमें लिखा गया साहित्य अब केवल विचारों की अभिव्यक्ति का माध्यम मात्र नहीं है, बल्कि उस देश और परिवेश की भाषिक संस्कृति, आचार-विचार, रहन-सहन, बोल-चाल, खान-पान और समाज के ऐसे अनेक अंतर्निहित पहलुओं को प्रतिबिम्बित करने का एक सशक्त साधन है जो अन्य कलाओं के माध्यम से शायद अभिव्यक्त न हो पाते हों। हिंदी भाषा न केवल भारत, बल्कि विश्व के बहुसंख्यक समुदायों द्वारा बोली और समझी जाती है। अन्य भाषा-भाषी लोगों के लिए सीखने की दृष्टि से भी हिंदी बहुत सरल है। आज के प्रौद्योगिकी युग में इंटरनेट और कम्प्यूटर के माध्यम से हिंदी सीखने के लिए अनेक टूल उपलब्ध हैं। इसके अलावा, हिंदी में टाइप करने के लिए पारम्परिक रैमिंग्टन की-बोर्ड के साथ-साथ बहुत सी सुविधाएं जैसे फोनेटिक की-बोर्ड, स्पीच-टू-टैक्स्ट, इंस्क्रिप्ट की-बोर्ड, ट्रांसलिटरेशन आदि उपलब्ध हैं।

भाषाएँ हमारे सभ्यतागत अस्तित्व और सामाजिक-सांस्कृतिक विविधता की एक महत्वपूर्ण और पारिभाषिक विशेषता रही है। ऐसा लगता है कि विश्व स्तर पर भारतीय संस्कृति एवं भाषाओं के प्रचार-प्रसार और संरक्षण में हिंदी और प्रवासी भारतीयों ने बहुत ही सक्रिय भूमिका निभाई है। आज प्रवासी भारतीय दुनिया के हर हिस्से में हिंदी भाषा के साथ अपनी अपनी मातृ-भाषाओं को भी बढ़ावा दे रहे हैं। भारत के साथ विश्व समुदाय के बढ़ते आर्थिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक संबंध विश्व की जनता को हिंदी भाषा सीखने के लिए आकर्षित और प्रेरित कर रहे हैं। औपनिवेशिक अलगाव, सामाजिक-सांस्कृतिक विकास और भौगोलिक दूरी के बावजूद हिंदी हम लाखों लोगों को एक साथ जोड़ने का कार्य कर रही है। संयुक्त राष्ट्र संघ में प्रस्ताव पारित होने के बाद से हिंदी विश्व भाषा बनने की दिशा में तेजी से अग्रसर हो रही है। यह अपने आप में इस बात का प्रमाण है कि हिंदी शीघ्र ही विश्व भाषा की पंक्ति में स्थापित होगी।

एक वैश्विक भाषा के रूप में हिंदी हमें सांस्कृतिक, पारंपरिक, क्षेत्रीय और विशेष रूप से जातिगत, स्वभावगत और प्रवृत्तिगत विविधता के बावजूद दुनिया को करीब लाने और भारत की भाषायी, सामाजिक और सांस्कृतिक विशेषताओं को उन्हें समझाने में सक्षम बनाती है। यह इस मायने में भी एक वैश्विक भाषा बन रही है कि यह स्वरूप के मामले में सरल और सहज, कार्य क्षेत्र के मामले में मुक्त और अवसरों के मामले में बंधनरहित है। अंग्रेजी, फ्रेंच, स्पेनिश और जर्मन जैसी प्रमुख अंतरराष्ट्रीय भाषाएं भी इस श्रेणी में आती हैं। लोग प्रथम, द्वितीय या तृतीय भाषा के रूप में इसमें निपुणता हासिल कर बेहतर रोजगार, गुणवत्तायुक्त शिक्षा और अंतरराष्ट्रीय पहचान प्राप्त कर सकते हैं। ये भाषाएं पश्चिमी सभ्यताओं की राजनीतिक, सामाजिक और सांस्कृतिक परम्पराओं के लंबे इतिहास का भी प्रतिनिधित्व करती हैं और आज वैश्विक स्तर पर बौद्धिक विमर्श का हिस्सा बनी हुई हैं। हिंदी भी इस दौड़ में बहुत पीछे नहीं है। आज दुनिया भर के 115 से अधिक विश्वविद्यालयों में नियमित रूप से हिंदी पढ़ाई जाती है। विश्व पटल पर जैसे जैसे भारतीय और हिंदी भाषी लोगों के कार्य और प्रभाव क्षेत्र का विस्तार हो रहा है, वैसे ही हिंदी भाषा का भी विस्तार होता जा रहा है। आज विश्व के अधिकांश देशों में भारतीय समुदाय मौजूद हैं। इसके परिणामस्वरूप उन तमाम देशों में हिंदी भी विद्यमान है और लगातार वहां हिंदी समोन्नत हो रही है।

इसके विपरीत, भारत हमेशा से ही सभ्यता और समाज, दोनों रूपों में सदियों से बाहरी दुनिया के लिए खुला रहा है। मसालों के व्यापार के अलावा, यहाँ बौद्धिक परंपराओं, संस्कृति, दर्शन, विज्ञान और नवाचार का निर्बाध प्रवाह हो रहा है। दुनिया का सबसे बड़ा लोकतंत्र होने के नाते वैश्विक मंच पर भारत का आचरण सदैव पारदर्शी रहा है। 21वीं सदी में भारत संपूर्ण मानवता के 1/5 भाग का प्रतिनिधित्व करता है, जहां लगभग 50% आबादी 25 वर्ष से कम आयु वर्ग की है। भारतीय युवा वर्ग वैश्विक है और आकांक्षाओं व उत्साह से भरा हुआ है। हर वर्ष लगभग आधा मिलियन भारतीय छात्र अंग्रेजी बोलने वाले देशों

के शिक्षण संस्थानों में दाखिला लेते हैं। वे विश्व स्तर पर उभरते हुए भारत की भाषायी विविधता के अग्रदूत बनकर वहां जाते हैं और हिंदी इस प्रक्रिया का एक अभिन्न अंग है। भारतीय फिल्म उद्योग ने भी दुनिया के विभिन्न हिस्सों में भारतीय प्रवासी समुदायों के बीच अपनी उपस्थिति दर्ज कराई है। दुनिया भर में हिंदी भाषा के प्रचार-प्रसार में हिंदी फिल्मों के योगदान को कभी भी भुलाया नहीं जा सकता है। आने वाले दशकों में हिंदी के एक महत्वपूर्ण वैश्विक भाषा के रूप में उभर कर सामने आने की स्थिति है, फिर भी इसे कुछ दीर्घकालिक चुनौतियों का सामना करना पड़ रहा है, जो इस प्रकार हैं:

किसी हिंदीतर भाषी वक्ता को हिंदी क्यों सीखनी चाहिए? उसे शिक्षा, वैज्ञानिक अनुसंधान, वाणिज्य, व्यापार, राजनीति, पर्यटन, मीडिया और वेव पत्रकारिता जैसे क्षेत्रों में इसका उपयोग क्यों करना चाहिए? ये विचारणीय और बड़े प्रश्न हैं। एक प्रसिद्ध कहावत है कि जो व्यक्ति किसी देश की भाषा जानता है, वह अपने उत्पाद को दूसरे, जो वहां की भाषा नहीं जानते हैं, की तुलना में अधिक तेजी से बेच सकता है। यह तर्क किसी भी भाषा के लिए लागू होता है। किसी भी भाषा को वैश्विक भाषा बनने के लिए अंतरराष्ट्रीय मानकों और अपेक्षाओं को पूरा करना होगा, तभी वह दुनिया भर के उपभोक्ताओं के बीच लोकप्रिय हो सकती है। हिंदीतर भाषी लोगों के लिए हिंदी को विशेष रूप से व्याकरण, लिंग, उच्चारण और मात्रा दोष की दृष्टि से थोड़ा लचीला होना होगा। इसके लिए केंद्रीय हिंदी निदेशालय और वैज्ञानिक और तकनीकी शब्दावली आयोग जैसे संस्थानों को आगे आना होगा, जो शब्दावली और उसके प्रयोग को हिंदीतर भाषी लोगों की जरूरत के अनुसार सुग्राह्य बनाने की दिशा में काम करेंगे।

नेपाल, फिजी, मॉरीशस, गुयाना, संयुक्त राज्य अमेरिका, दक्षिण अफ्रीका, युगांडा, बांग्लादेश, बेलीज, भूटान, बोत्सवाना, कनाडा, जिबूती, इक्वेटोरियल गिनी, जर्मनी, केन्या, न्यूजीलैंड, फिलीपींस, सिंगापुर, सेंट मार्टिन, संयुक्त अरब अमीरात, यूनाइटेड किंगडम, यमन, जाम्बिया जैसे देशों में हिंदी का व्यापक रूप से उपयोग किया जाता है। हालांकि, त्रिनिदाद और टोबैगो जैसे देशों में भारतीय मूल के लोगों ने भारतीय संस्कृति को तो भली-भांति बचाए रखा है, परन्तु खेद की बात है कि वे अपनी भाषा, चाहे वह भोजपुरी हो या हिंदी, को संरक्षित नहीं रख पाए। लोग यहां हिंदी फिल्में और टीवी सीरियल देखते हैं, परन्तु उन्हें अंग्रेजी सब-टाइटल की मदद लेनी पड़ती है। वे हिंदी गाने, भजन और यहां तक कि गज़ल भी सुनते हैं और अर्थ को बिना समझे भी संगीत का आनंद लेते हैं। भारत सरकार युवाओं और प्रवासी भारतीयों के बीच हिंदी को लोकप्रिय बनाने के लिए हर संभव प्रयास कर रही है। हालांकि, यह तब तक सुलभ नहीं होगी जब तक कि वे लोग भारतीय अर्थव्यवस्था, संस्कृति, उच्च शिक्षा, वैज्ञानिक सहयोग और मनोरंजन उद्योग के साथ इनके अभिन्न अंग के रूप से नहीं जुड़ते हैं।

हिंदी भाषा की उपयोगिता बढ़ाने के लिए डिजिटल स्पेस में इसकी उपस्थिति में वृद्धि करने और अन्य भारतीय व विदेशी भाषाओं के साथ

स्वतंत्र रूप से संवाद स्थापित करने के लिए प्रयास किए जाने चाहिए। कई लेखक, कथाकार और सामग्री निर्माता आज की दुनिया में बड़े पाठक वर्ग तक पहुंच बनाने के लिए कई भारतीय व विदेशी भाषाओं का उपयोग करना चाहते हैं। हिंदी को अन्य भारतीय व विदेशी भाषाओं को भी समुचित स्थान दिलाने की दिशा में नेतृत्व परक भूमिका अदा करनी चाहिए और भारत में तथा भारत के बाहर भारतीय भाषा-भाषी समुदायों तक व्यापक पहुंच बनाने के लिए अपनी शक्ति का उपयोग करना चाहिए।

न केवल भारत, बल्कि पूरी दूनिया में युवा वर्ग को आपस में जोड़ना भी एक चुनौती है। इसके लिए यहाँ वैश्विक ई-अधिगम प्लैटफॉर्मों के विकास की भी गुंजाइश है, जो भविष्य में हिंदी के वैश्विक स्तर पर प्रचार-प्रसार में भी महत्वपूर्ण भूमिका अदा कर सकते हैं। भारत के बाहर अनिवासी भारतीयों के अलावा, कई प्रवासी बच्चे अंशकालिक स्कूली पाठ्यक्रम गतिविधियों के रूप में या तो स्कूल के बाद हिन्दी सीखना चाहते हैं या फिर साप्ताहिक अवकाश के दिनों में। यह महत्वपूर्ण है कि हमें छात्रों और स्कूलों के लिए उनकी जरूरत को ध्यान में रखते हुए आसानी से सुलभ होने वाले डुओलिगो जैसे वैश्विक प्लैटफॉर्म विकसित करने चाहिए। वैश्विक समुदाय के लिए हिंदी को तुलनात्मक रूप से अधिक सुलभ बनने के लिए कुछ भाषायी समाधान इस प्रकार किए जा सकते हैं:

i. **सरलीकरण**: कोई भी भाषा संरचनात्मक रूप से जितनी जटिल होती है, वह नए लोगों के लिए सीखने की दृष्टि से उतनी ही अधिक दुरूह हो जाती है। कोई भी भाषा लचीलेपन से ही आसानी से सुलभ हो पाती है। यह एक सकारात्मक प्रवृति है कि पिछले कुछ वर्षों में हिंदी का काफी सरलीकरण हुआ है और इसे डिजिटल उपयोग की दृष्टि से भी आसान बनाया गया है। फिर भी इसे और उदार एवं व्याकरण, लिंग, शब्दावली की दृष्टि से भी सरल बनाने की आवश्यकता है।

ii. **विदेशी भाषाओं के शब्दों का समावेश:** इन वर्षों में हिंदी ने खुद को समृद्ध करने के लिए अन्य भाषाओं से नए शब्द भी अपने शब्दकोश में जोड़े हैं। इसने हिंदी और अन्य सहोदरा भारतीय भाषाओं के बीच की सीमाओं को भी लगभग अप्रासंगिक बना दिया है। हिंदी को कई अन्य विदेशी भाषाओं से भी शब्द ग्रहण करने की इस परम्परा को उदारता के साथ जारी रखना होगा। ऐसे शब्द भंडार, विशेष रूप से वैज्ञानिक अनुसंधान और विश्लेषण में जिनका उपयोग किया जाता है, सूचना प्रौद्योगिकी और कम्प्यूटर विज्ञान क्षेत्र के प्रचलित शब्दों के दुरूह हिंदी समतुल्य गढ़ने की बजाए उन्हें ज्यों का त्यों वाक्य संरचना में शामिल करने की आवश्यकता है।

iii. **डिजिटलीकरण:** भारत डिजिटाइजेशन अथवा डिजिटलीकरण के मामले में दुनिया का सबसे बड़ा प्रायोगिक स्थल है। यहां इंटरनेट का उपयोग धीरे-धीरे हर गली-कूचे और नुक्कड़ तक पहुँच रहा है। लगभग सभी सोशल मीडिया प्लैटफॉर्म जैसे कि फेसबुक, ट्विटर, इंस्टाग्राम, यूट्यूब, कू, टेलीग्राम, वट्सएप इत्यादि में भी हिंदी सहित भारतीय भाषाओं का उपयोग किया जाता

है। कई सांस्कृतिक महत्व की सामग्री का भी डिजिटलीकरण किया जा रहा है, जिससे पारंपरिक और समकालीन दर्शकों और श्रोताओं तक डिजिटल पहुंच सुनिश्चित करने के लिए एक नया आयाम प्राप्त हो रहा है। इन उपकरणों की कुशलता और इनके इस्तेमाल की सहजता पर और अधिक काम किए जाने की आवश्यकता है। देवनागरी लिपि के डिजिटल उपयोग और पहुंच ने सोशल मीडिया, की-बोर्ड टाइपिंग और पुस्तकों के प्रकाशन को भी अधिक सरल बना दिया है। किंडल डिजिटल प्रकाशन (केडीपी) की तरह हिन्दी में डिजिटल प्रकाशन की सुविधा भारत में भी विकसित की जा सकती है, जिससे न केवल डिजिटल रूप से, बल्कि वास्तविक प्रिंट के रूप में प्रकाशन करने में भी आसानी होगी।

iv. **अंतरभाषिक संचार (संप्रेषण):** हिंदी को अपनी उपयोगिता बढ़ाने के लिए डिजिटल स्पेस में अन्य भारतीय भाषाओं के साथ स्वतंत्र रूप से संवाद स्थापित करना चाहिए। कई लेखक, कथाकार और सामग्री निर्माता आज की दुनिया में बड़े पाठक वर्ग तक पहुंच बनाने के लिए कई भारतीय भाषाओं का उपयोग करना चाहते हैं। हिंदी को अन्य भाषाओं को भी समुचित स्थान दिलाने की दिशा में नेतृत्व परक भूमिका अदा करनी चाहिए और भारत में तथा भारत के बाहर भारतीय भाषा-भाषी समुदायों तक व्यापक पहुंच बनाने के लिए अपनी ताकत का उपयोग करना चाहिए।

v. **ई-वाणिज्य:** भारत के टियर-II और टियर-III शहरों में ई-वाणिज्य और विज्ञापन के क्षेत्र में अपार संभावनाएं निहित हैं और वैश्विक कनेक्टिविटी की भी संभावना है। एमेजॉन, फ्लिपकार्ट, मिंत्रा, एफबी बिजनेस, डब्ल्यूए बिजनेस आदि जैसे प्लेटफार्मों के लिए भी हिंदी और अन्य भारतीय भाषाओं की बहुत आवश्यकता है। इस दिशा में बी.पी.ओ. उद्योग और कॉल सेंटर अपने आप में इस चुनौती के बहुत सार्थक समाधान सिद्ध हुए हैं। आज दुनिया भर के लोग इनके माध्यम से अपनी भाषा में वास्तविक समय आधार (रियल टाइम बेसिस) पर जानकारी प्राप्त करके अच्छा लाभ प्राप्त कर रहे हैं।

vi. **डिजिटल मीडिया:** पिछले कुछ वर्षों में यूट्यूब, वेब समाचार चैनलों जैसे डिजिटल मीडिया की सक्रियता जनता के बीच काफी बढ़ गई है। टेलीविजन की जगह स्मार्टफोन ने ले ली है। इससे हिंदी को वैश्विक दर्शकों और पाठकवर्ग तक पहुंच बनाने के लिए जबरदस्त अवसर मिल रहे हैं। विकिपीडिया में बताया गया है कि एक आधुनिक डिजिटल संदर्भ पुस्तकालय कैसे काम करता है। विश्व स्तर पर लोकप्रिय होने के लिए हिंदी में ऐसे डिजिटल संसाधन किसी भी व्यक्ति के लिए 24X7 आधार पर उपलब्ध होने चाहिए, चाहे उनका उपयोग किसी भी संदर्भ, अधिगम और अनुसंधान के लिए क्यों न किया जाना हो।

vii. **डिजिटल शिक्षण-** 21वीं सदी आभासी कक्षाओं, चैटबॉक्स और दूरस्थ अधिगम की सदी है। कोविड-19 ने हमें सिखाया है कि आभासी दुनिया में काम कैसे करना है। लगभग सभी शिक्षण संस्थान अब अनुवाद अध्ययन, वाकपटुता, कौशल और अन्य समझ विकसित करने वाले कौशल जैसे आवश्यकता-आधारित

पाठ्यक्रम बनाने की कोशिश कर रहे हैं। हिंदी इन पहलों का हिस्सा हो सकती है। हिंदीतर भाषियों के लिए नए सॉफ्टवेयर पैकेज डिज़ाइन और विकसित किए जा सकते हैं। नए प्रयोक्तानुकूल आईसीटी पैकेज और अनुप्रयोग विकसित और तैयार किए जा सकते हैं, ताकि बड़े पैमाने पर हिंदी का अध्ययन अध्यापन किया जा सके।

viii. **वैश्विक युवा वर्ग को जोड़ने के लिए प्रयास**: हिन्दी के लिए वैश्विक ई-अधिगम प्लैटफॉर्म विकसित करने की दिशा में प्रयास किए जाने चाहिए। इस दिशा में बड़े पैमाने पर और बहुत उपयोगी कार्य किया जा सकता है। भारत के बाहर बहुत से अप्रवासी बच्चों के साथ-साथ विदेशी बच्चे भी अंशकालिक स्कूली पाठ्यक्रम गतिविधियों के रूप में या स्कूल के बाद हिन्दी सीखना चाहते हैं। ऐसे प्लैटफॉर्म उनके लिए अत्यंत लाभप्रद सिद्ध होंगे। यह महत्वपूर्ण है कि हमें छात्रों और स्कूलों के लिए जल्दी से सुलभ होने वाले डुओलिंगो जैसे वैश्विक प्लैटफॉर्म विकसित करने चाहिए। यद्यपि वेब दुनिया, विकिपीडिया, माइक्रोसॉफ्ट, गूगल आदि बड़ी कंपनियां इस दिशा में कार्य कर रही हैं, परन्तु इनके बारे में संस्थागत स्तर पर और अधिक प्रयास आवश्यक हैं।

ix. भारत ने वैश्विक स्तर पर डिजिटल अर्थव्यवस्था में अपनी महत्वपूर्ण उपस्थिति दर्ज कराते हुए खुद को सुस्थापित कर लिया है। पूरे देश में उच्च गति कनेक्टिविटी का विस्तार किया जा रहा है। कोविड-19 के बाद भारत के एक प्रमुख वैश्विक शक्ति के रूप में उभर कर सामने आने की पूरी उम्मीद है। यह नई संभावित स्थिति नि:संदेह एक लोकप्रिय अंतरराष्ट्रीय भाषा के रूप में हिंदी को बढ़ावा देने में अहम भूमिका निभाएगी। यह भी संभावना है कि हिंदी के साथ-साथ अन्य भारतीय भाषाओं को भी नए सिरे से पुन: अपना प्रयोग बढ़ाने का अवसर प्राप्त हो। वैश्विक अवसरों का लाभ उठाने के लिए अंतर्राष्ट्रीय स्तर की मानक सामग्री के निर्माण पर ध्यान केंद्रित करते हुए डिजिटल स्पेस में "सामंजस्यपूर्ण सह-अस्तित्व" बनाए रखने के लिए अन्य भारतीय और विदेशी भाषाओं के साथ सहयोग करना हमारी रणनीति होनी चाहिए।

जैसा कि हम सभी जानते हैं कि दिनांक 12 मार्च 2021 को साबरमती नदी के तट पर भारत के "आजादी के अमृत महोत्सव" का उद्घाटन करते हुए माननीय प्रधानमंत्री श्री नरेंद्र मोदी जी ने कहा था कि भारत की आज़ादी के 75 वर्ष की इस विकास यात्रा को विश्व समुदाय के समक्ष उजागर करने के लिए मनाए जा रहे विभिन्न समारोह "1.3 बिलियन भारतीयों की आकांक्षाओं, भावनाओं, विचारों, सुझावों और स्वपनों को साकार करेंगे"। इसमें हिंदी भाषा भी महत्वपूर्ण भूमिका अदा कर रही है। यह लेख भी उस भावना और भूमिका को और अधिक बलवती बनाने की दिशा में एक प्रयास है।

*****

कला-संस्कृति के संवर्धन में महिलाओं की भूमिका

कल्पना बाजपेयी
सेक्टर-4, द्वारका, नई दिल्ली

लोक कला-संस्कृति समाज एवं जीवन के विकास में मानव-मूल्यों की सम्यक संरचना है। सामाजिक व सांस्कृतिक उत्स में कला अंतर्निहित होती है। इसके प्रमाण महलों, देवालयों और गुफ़ाओं के भित्ति-चित्रों में देखने को मिलते हैं। मानवीय रहवासों में भी कला-संस्कृति अपनी समग्रता में संचित और मुखरित होती है। इन्हीं सबके द्वारा लोक से लोक और लोक-संस्कृति तक आपस में सभी को जोड़ने का महत्वपूर्ण कार्य किया जाता है।

संस्कृति वह स्थिति है जो चरण-दर-चरण सुधरी और सधी हुई मानवीय सभ्यता को चित्रित करती है तथा समाज में पाए जाने वाले उच्चतम मूल्यों की चेतना को प्रकाशित करती है।

संस्कृति के द्वारा ही सामाजिक प्रथाओं, रीति-रिवाज़ों, भावनाओं, मनोवृत्तियों और भौतिक पदार्थों को विशिष्ट रूप प्रदान किया जा सकता है। यदि ये कहा जाए कि संस्कृति वह शक्ति है जो निरन्तर सृजनात्मकता से समाज व मानव-मूल्यों को परिष्कृत करती हुई उन्मुक्त चलती है, तो अतिशयोक्ति नहीं होगी। वैसे देखा जाए तो लोक-कला और संस्कृति का चोली-दामन का साथ है।

गोंड जनजाति का कला चित्र

सुसंस्कृत कलाकार चित्त को आत्मसृजन में निरत कर परम पुरुषार्थ को प्राप्त कर लेता है। कला द्वैत्व से अद्वैत्व की ओर की यात्रा संभव करती है। विशुद्ध कला के चितेरे कलाकार की कृति किसी को भी सम्मोहित कर लेती है। आदिकाल से मानव पृथ्वी पर के सोचने-विचारने, कार्य करने, खाने-पीने, बोलने-बताने, नृत्य-गायन आदि को कलात्मक आकृतियों-भावनाओं के द्वारा वही कलाकार प्रदर्शित कर सकता है जो कला-संस्कृति दोनों में मर्मज्ञ हो। भारतीय परंपरा में कला के अंतर्गत वे सारी क्रियाएँ आती हैं जिनमें मनुष्य का कौशल अपेक्षित होता है। दूसरे शब्दों में यदि कहा जाए तो इन दोनों तत्वों का मिश्रण एक प्रकार का मानवीय सजीव निर्माण है, जिसमें कला-कौशल के साथ भावनात्मक प्रयोग भी किये जाते हैं। मानव सभ्यता ने जैसे-जैसे अपना विकास किया है, वैसे-वैसे वास्तुकला व स्थापत्य

कला के रूपों में भी परिवर्तन आता चला गया है। भारत में प्रागैतिहासिक काल से लेकर आधुनिक काल तक स्थापत्य कला के विकास में वृहत्तर निरन्तरता व उन्नत बदलाव देखे जा सकते हैं।

लोगों के मन में ये संदेह हो सकता है कि सभ्यता-संस्कृति दो चेहरे वाली एक आत्मा है। दूसरी तरह से यदि कहा जाए तो संस्कृति और सभ्यता के घालमेल से ही मानवीय लोक चलता है। मैं क्या; तमाम विचारक भी यही कहेंगे कि लोक-कला और सभ्यता, संस्कृति से जुड़ी तो है, लेकिन फिर भी वह एक नहीं है। लोक-कला, संस्कृति के उजियारे में, सभ्यता के साथ-साथ चलती है। कला सभ्यता की वह साथिन है जो हर हाल में उसका सहयोग करती है लेकिन संस्कृति लोक की सिरमौर है। लोक में ये भी कहा-सुना जाता है कि जो तत्व मानव मन को आह्लादित कर दे, बस वही कला है, किन्तु यदि थोड़ी देर के लिए ही मनुष्य को कला आनन्दित करती हो तो वह पुच्छल तारा भर ही कही जायेगी। संस्कृति के योग से उपजी गाढ़ी कलाएँ कलाकार को धीरे-धीरे रचते हुए खुद को बचातीं और हर्षित करती रहती हैं।

कलाकार जब अपने भीतर डूबकर कुछ रचता है तब सिर्फ वही नहीं, अपितु देखने-सुनने वाले भी आनन्द की गहराई में डूबकर गोते लगाने लगते हैं। ऐसी स्थिति में कला के साथ संस्कृति का आयतन भी शोभित होने लगता है। कलाकार की अंतर-चेतना में संवेदना का स्रोत जब फूटने लगता है, तब उसकी कला कालजयी बनकर लोक के लिए परिवर्तनकारी साबित होती है। किसी देश या समाज को जानना हो तो वहाँ की लोक-संस्कृति और लोक-कला को जानना चाहिए। उसकी अंदरूनी भाव-भंगिमाओं से लोक-जीवन का पता तुरंत चल जाएगा।

कोहबर चित्र

संस्कृति के मामले में कहा जा सकता है कि ये एक ऐसा घटक है, जिसका अपना स्वतन्त्र प्रवाह है। ये निरन्तर चलायमान भी है और स्थिर भी। इसमें बदलाव किंचित ही देखे जाते हैं। इसलिए लोक-नायक इसको जस का तस बनाये रखना चाहते हैं। वहीं लोक-कला बिना आनन्द का क्षरण किये हुए अपने में बदलाव कर लेती है। इसका कारण और कुछ नहीं, मनुष्य का कौशल होता है। कलाओं का विकास शास्त्रबद्ध नियमों के अनुरूप अपने-अपने काल में होता रहा है।

ग्राम्य-जीवन अपने संस्कारों के आदान-प्रदान में संस्कृति के सूत्र को मजबूती से पकड़े रहता है। हम जिस व्यक्ति को सुसंस्कृत-कलावंत कहना चाहते हैं, उसमें शुचिता, पवित्रता, प्रामाणिकता के तत्त्वों को खोजने लगते हैं। हमें अपनी कलाओं के माध्यम से ऐसे तत्व गढ़ने हैं जो हमारी संस्कृति का अनुलोम-विलोम बन सकें। कलाकार अपने प्रतीकों एवं बिंम्बों के माध्यम से परम्परागत रीति-रिवाजों की अभिव्यक्ति जनमानस के हृदयों पर अंकित करता है, उसका ये कार्य स्तुत्य और सराहनीय है।

थारु जनजाति की बांस हस्तकला

हज़ार-हज़ार वर्षों से समाज में विकास की धारा के साथ कलाएँ भी विकसित होती जा रही हैं। कहने को लोक-कला और संस्कृति में महिला-पुरुष, दोनों की भागीदारी है लेकिन इसके संवर्धन में महिला की भूमिका को ज़्यादा महत्वपूर्ण माना जाता है, क्योंकि समाज चाहे ग्रामीण हो या नगरीय, उसमें व्याप्त कला-बोध को महिलाओं ने जितनी कुशलता से साधा है, उतना पुरुषों ने नहीं। उसका कारण है कि जब महिलाओं की मौजूदगी सिर्फ़ दीवारों तक सीमित थी, तब पुरुषों को रोटी की जुगाड़ में आठों पहर आँगन से लेकर जंगल तक भटकना पड़ता था। लेकिन जब बात ख़ुशी जुटाने की आई तो आनन्द की ख़ोज सबकी अपनी-अपनी हो गयी। जीना सबको सबके साथ में था, लेकिन मन के उत्स का जुटान अपना-अपना करना था। इसलिए चारदीवारी में स्थायी रूप से घिरी रहने वाली महिलाओं ने स्वयं को जीवित रखने के लिए कला-कौशल में निपुणता हासिल कर अपने तालाबी मन में मानसरोवरी त्वरा भरने का काम आरम्भ कर दिया।

सामाजिक रूढ़िवादिता तथा संकीर्णता सदियों तक व्याप्त रहने वाला रोग है। स्वतन्त्रता आंदोलन के दौरान महिला के हिमायती विचारकों ने एक नवबोध उत्पन्न किया, परिणाम स्वरूप महिला अपनी दीनता-हीनता को पीछे छोड़ कला में रुचि लेने लगी और बीसवीं सदी आते-आते समाज में उसकी कला का अभिनन्दन होना शुरु हो गया।

महिलाओं के कलात्मक प्रोत्साहन हेतु सरकारी-गैरसरकारी संस्थाओं ने भी प्रयास आरम्भ कर दिए। जिनमें राष्ट्रीय व अंतर्राष्ट्रीय स्तर की 'वीमैन वेलफेयर' सोसाईटी, मानवाधिकार, कला मंत्रालय, शिक्षा एवं सांस्कृतिक संस्थानों के अलावा कलादीर्घाओं, कला संग्रहालयों ने उन्हें स्वयं के विचारों-भावनाओं को प्रकट करने का उचित मंच प्रदान किया।

चित्रकला में महिला चित्रकारों की भूमिका न भुलाने योग्य बनती जा रही है। ये उन्हें आर्थिक रूप से समृद्ध तो कर ही रही है, उनकी चेतना का पर्याय भी बनती जा रही है। इससे सामाजिक ढाँचे में लचीलापन और जागरूकता की बढ़त हुई है। भारतीय लोक में भावनात्मक रूप से महिलाएं मजबूत होने लगी हैं। रंग और महिला जब एक दूसरे से मिले तो उनके जीवन का धूसरपन ओस की बूँद की तरह विलीन होने लगा और भावलोक में इन्द्रधनुषीय सौन्दर्य बिखरने लगा।

कला महिला के दायरे में आए या महिला कला के दायरे में..., संस्कृति स्वतः उसकी कृतियों में परिलक्षित होने लगती है। इस पथराये समय में भले कला-कृतियों की प्रदर्शनी लगाई जा रही हो, पर लोक मूल्य छितराते हुए लगते

हैं। फिर भी आज की कलावती महिला समय के डिब्बे में कंकड़ की तरह नहीं, सितार की तरह झंकृत होने का प्रयास करती रहती है।

थारु जनजाति की बांस हस्तकला

बीसवीं सदी के कई दशकों में महिला चित्रकारों ने मनुष्य के आंतरिक भावों को सामाजिक स्तर दिलाया है। एक महिला जब अपनी कृति में किसी मान्यता या परम्परा को साकार रूप देती है तो उसमें उसके आत्मचिंतन को साफ देखा जा सकता है। महिला जीवन भले संघर्षों की गाथा रहा हो फिर भी वह अपने जीवन को अनुगूँजित कर ही लेती है। महिला द्वारा बनाई गयी कृतियों में उसका व्यक्तिगत दृष्टिकोण उभर-उभर कर आता है। उन चित्रों में दमनकारी-जकड़न की खुरचन तो मिलती है, लेकिन मुक्त होने की अनुशंसा भी साफ़ नज़र आती है।

अमृता शेरगिल को भला कौन भूल सकता है। उनके बनाये धरातल पर अनेकानेक महिला कलाकारों का पदार्पण होता चला गया और उस कलात्मक परंपरा को उन्होंने प्रेमपूर्वक सम्हाल लिया। आधुनिक महिला ने अपनी कृतियों में लोक-कलाओं, प्रविधियों और तकनीकों को बहुत गम्भीरता से आगे बढ़ाया। उनकी कामनाओं का कला-लोक बहुत ही विशाल और कोमल है। महिला के यहाँ खुशी हो या दुःख, दोनों को चित्रित करने के सारे 'टूल्स' मौजूद हैं। उसने अपनी खुशियों को इस प्रकार कैनवस पर उभारा है कि देखते ही रंगों की गौरैया फुदकती हुई नज़र आती है, वहीं अपने दुखों, संत्रासों, कुरीतियों और विडंबनाओं की भी अभिव्यक्ति बड़ी मार्मिकता से की है।

महिलाएं संवेदनाओं के सूक्ष्म रूप उद्धृत करने में अधिक सुख पाती हैं। यहाँ ये कहना लाज़िमी होगा कि जब कोई कलाकर अपने भोगे हुए सत्य को तूलिका से छूता है तो मार्मिकता स्वतः अनावृत होने लगती है। समाज में दोयम दर्जे का प्राणी समझी जाने वाली महिला ने जब तूलिका सम्हाली तो सबसे पहले उसने घुटन भरे पहलुओं की चिंदी-चिंदी कर डाली।

के. वनजा अपनी किताब "ईको फेमिनिज्म" में कहती हैं कि ऋग्वेद से लेकर आज तक साहित्य में महिलाओं की रचनाओं की एक विशेषता रही है कि ये लोक चेतना से संपन्न हैं।" इस विचार से मैं भी सहमत हूँ। ग्रामीण महिला जीवन हो या नगरीय, दोनों परिवेश की महिलाओं की खुशी के आयतन में कला और पर्यावरण का एक पवित्र स्थान है। लोक संस्कृति में महिलावाद एक अंतर अनुशासनात्मक आंदोलन है। जो महिला को प्रकृति, राजनीति और आध्यात्मिकता के संबंध में नए ढंग से सोचने के लिए प्रेरित करता है। कभी किसी ने प्रकृति को हर्षित होते हुए देखा है? या उसकी लयात्मक भंगिमाओं को परखा है? यदि

नहीं, तो महिला को देखना चाहिए। प्रकृति और महिला की घनिष्ठता ठीक से समझ में आएगी।

सच कहा जाए तो प्रकृति भी एक दैवमहिला है। उसकी कोख से पैदा होने वाली वनस्पति पर खिलते हुए फूलों का समय-क्रम कलात्मक प्रकटीकरण है। वैज्ञानिक प्रगति से पहले घड़ी नामक यंत्र नहीं बना था, तब वनदेवी फूलों को खिलाकर आदिम जन-जीवन को समय का ज्ञान दे उनकी दैनिक क्रियाओं को सम्बल देती थी। कला सद्भावना की संस्कृति रचती है।

पिथौरा चित्रकला

संस्कृति के दामन में फलती-फूलती कला जब किसी महिला का दामन थामती है तब वह फर्क नहीं करती। आदिवासी महिला अपने द्वार पर गीली मिट्टी से समृद्धि सूचक भित्तिचित्र उकेरे या हल्दी, कुमकुम,रंगों आदि से अपने दरवाजे पर रंगोली या अल्पनायें उकेरे, उसे समान ख़ुशी मिलती है। देखने वाला भी दोनों दृश्यों को देखकर आनन्दित होता है। कला मानवीय दिलों को जोड़ने का कार्य करती है। संस्कृति उस बन्धन को मज़बूत बनाती है।

थारू जनजाति की महिलाएं घरों में अनाज का संग्रह करने के लिए मिट्टी की सुंदर कोठियों का निर्माण करती हैं। पातालकोट क्षेत्र के भारिया आदिवासियों के द्वारा लकड़ी पर सुंदर नक्काशी कर विवाह स्तम्भ बनाये जाते हैं। उन स्तम्भों पर महिलाएं जब पन्नियाँ,गोटे और घण्टियाँ लगाती हैं तब विवाह-मंडप कला और संस्कृति का एक सुंदर नमूना लगने लगता है। यहाँ पंडित विद्यानिवास मिश्र जी अनायास याद आते हैं। वे अपने ललित निबन्ध "हल्दी-दूब और दधि-अक्षत" में लिखते हैं कि,"मेरे घर की संस्कृति के मांगलिक उपादान मूर्त रूप से हल्दी-दूब और दधि-अक्षत ही हैं। शहर में लंबे अरसे तक बसने के बाद भी इन मंगल-द्रव्यों की शोभा देखने को मन ललक उठता है।"

ये लोक संस्कृति ही है जो छूट-छूटकर भी मनुष्य के हाथ से नहीं छूटती है। माँ जब बेटी को विदा करती है तो पियरी के खूँट में कुँआ की दूब, हल्दी और अक्षत बाँधकर उसे अपनी कामनाओं में स्थिर और स्मृतियों में मायके से जुड़े रहने का संदेश बाँध देती है। हर नई परिस्थितियों में हरा बने रहने की सुधि को गठिया देती है। जब एक महिला कोहबर रचती है तब मन के भीतर दबी अपनी सारी कलात्मक इच्छाओं को चावल के घोल और रेखाओं के माध्यम से दीवार पर उकेर देती है जिसकी छाँव में बैठे नवदंपति उस संस्कृति को अपने मन में सदा के लिए समेट लेते हैं। मानवीय मूल्यों और लोक चेतना के संवर्धन हेतु कला और संस्कृति के व्यापार को हमें वृहत्तर ढंग से समझना होगा क्योंकि निज कला-संस्कृति को बचाने में स्वयं को बचा लेने का गहरा उद्देश्य निहित होता है। और इसके केंद्र में महिला कलात्मकता की गूँज बहुत गहरी होती है।

****

भारतीय साहित्य में निहित नैतिक मूल्य

उर्मिला कुमारी,
मालवीय मार्ग, हजारी
बाग, झारखंड

संसार की सबसे पुरानी सभ्यता के रूप में भारतीय सभ्यता की गणना की जाती है। नैतिक शास्त्रों का विशाल भंडार भारत में उपस्थित है जिसने सदियों से सभ्यता का मार्गदर्शन किया है। भारत में धर्म और नैतिकता के मध्य गहरा संबंध है। नीति शास्त्र के अनुसार मनुष्य को अपने कर्तव्यों का निर्वहन करना पड़ता है। नैतिकता दो प्रकार की होती है - व्यक्तिगत और सामाजिक। नैतिक शास्त्र मूल्यों तथा मानकों पर आधारित होता है।

मानव जीवन में सामाजिक चेतना नैतिकता को मूल्य के रूप में स्वीकारती है और यही मनुष्य होने की पहली शर्त है। 'नीति' से बना है 'नैतिक' शब्द। नीति अर्थात् नियम। सामाजिकता में कुछ चीजें कर्तव्य रूप में वर्णित हैं तो कुछ चीजें वर्जित भी हैं। इसी से नैतिकता स्थापित हुई है। नैतिकता ही सामाजिक मूल्य है। मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। प्रत्येक देश और काल के कुछ सामाजिक मूल्य होते हैं जिन के आधार पर उस समाज का मनुष्य जीवन जीता है। समय और समाज के आधार पर मूल्यों में परिवर्तन आता है। भारतीय सामाजिक मूल्य और अमेरिकी सामाजिक मूल्यों में अंतर होना स्पष्ट है। ये शाश्वत और समान नहीं होते। नैतिक मूल्य ही वे मौलिक तत्व हैं जिनके आधार पर मनुष्य पशु से अलग होता है। बड़ों का सम्मान, पारिवारिक सम्बन्ध तथा मानवीय रिश्तों में आस्था, परोपकार, दानशीलता आदि गुण मनुष्य में पाए जाते हैं, पशुओं में नहीं।

यद्यपि समय के अनुसार समाज के नैतिक मूल्यों में अंतर आता है, किंतु कुछ नैतिक मूल्य ऐसे हैं जो एक समय में सभी समाज में एक समान स्थापित होते हैं। इनमें कुछ बदलते भी हैं। जैसे भारतीय सन्दर्भ में विवाह पूर्व यौन संबंध निषेध है, परन्तु यूरोपियन समाज में यह सहज प्रक्रिया स्वरूप मान्य है। वहां यह नैतिक मूल्य के रूप में स्थापित नहीं है। इसी प्रकार' आदर' शब्द की परिभाषा भी समय सापेक्ष है। इस धरती को मनुष्यता के साथ मनुष्य के जीने योग्य बने रहने के लिये नैतिक मूल्यों का बने रहना भी आवश्यक है।

यह विचारणीय है कि नैतिकता का उत्स कहाँ है? इसे मनुष्य कैसे धारण करता है? वास्तव में यह सीखने की बजाय हमारे भीतर विकसित होता है। इसके विकास में हमारे माता-पिता, परिवार, समाज, शिक्षण संस्थानों का महत्वपूर्ण योगदान होता है। इसमें साहित्य की विशेष भूमिका है। हमारा बचपन अनगढ़ होता है, और हमारी शिक्षा-दीक्षा पर ही हमारे व्यक्तित्व का निर्माण होता है। इतिहास से यह ज्ञात होता है कि अनेक महापुरुष (गांधी, शिवाजी आदि) किसी न किसी कहानी या साहित्य की विभिन्न

विधाओं के प्रेरक प्रसंगों से प्रभावित रहे हैं। इसलिए बच्चों को ऐतिहासिक, पौराणिक एवं सांस्कृतिक कथाओं से परिचित कराना चाहिए, ताकि उनके जीवन में वीरता, साहस, परोपकारिता, देशप्रेम, न्याय, सच्चरित्रता, सम्मान व सत्यवादिता जैसे उदात्त गुणों का विकास हो। अच्छे कर्म का फल अच्छा व बुरे कर्म का बुरा फल होता है। संत रहीम की ये पंक्तियां परोपकारिता पर बल देती हैं –

यो रहीम सुख होत है,उपकारी के संग।
बाँटनवारे को लगे, ज्यों मेहँदी के रंग ।।
मानस में भी कहा गया है -
'परहित सरिस धरम नहीं भाई।'

'बच्चे स्वर्ग के देवताओं की अमूल्य भेंट हैं।' - पाश्चात्य विचारक 'पोलाक' के इस कथन के समान ही हमारे यहाँ भी 'बच्चे भगवान के रूप होते हैं' ऐसा कहा गया है। आज के बच्चे ही भविष्य के नागरिक होते हैं। अतः उन्हें सक्षम और योग्य बनाने के साथ ही उनमें उच्च मानवीय मूल्यों का रोपण करना चाहिए, ताकि वे राष्ट्र के विकास में अपना रचनात्मक सहयोग दे सकें।

एक सांस्कृतिक और धर्म प्रधान देश होने के नाते भारत देश की संस्कृति ही उसकी धरोहर है। आज समस्त संसार आतंकवाद के निर्मम चंगुल में जकड़ा हुआ छटपटा रहा है। प्रतिदिन असंख्य निर्दोष, निरीह प्राणी बम विस्फोटों तथा अन्य प्रक्रियाओं द्वारा मौत के घाट उतारे जा रहे हैं। आधुनिकता के भौतिक युग में मानवीय मूल्य तथा आध्यात्मिक चिंतन लोग खोते चले जा रहे हैं।

आज की गम्भीर और अशांत स्थिति पर कवि की लिखी पंक्तियां विचारणीय हैं –

"जान पड़ता है सब संकट बिसारकर
मानव है नाश के कगार पर
जागी है उसमें पाशविकता,बधिकता
देखता नहीं है कुछ वृद्ध- बाल
सबके लिए है काल
दस्यु सम घात में है खड़ा
लज्जा नहीं आती है, आत्मा के हनन की।"

वर्तमान समाज में तेजी से परिवर्तन हो रहा है। परिवार बदले हैं, जीवन शैली बदली है। टेलीविजन, इंटरनेट, सेटेलाइट चैनलों, मोबाइल आदि ने हमारे जीवन को बहुत प्रभावित किया है। इनमें परोसी जा रही सामग्री ने बच्चों व युवाओं के ऊपर नकारात्मक प्रभाव डाला है। ढहते नैतिक मूल्यों के इस दौर में साहित्य ही इन्हें संजोए और बचाए रखने का अस्त्र सिद्ध हो सकता है। साहित्यकारों, मनोवैज्ञानिकों एवं समाज सेवियों द्वारा इसके सार्थक प्रयोग से ही अच्छी पठनीय सामग्री को बढ़ावा दिया जाना चाहिए।

आज का समय उथल- पुथल भरा और अशांत है। निश्चित रूप से इसका असर मनुष्य जीवन पर भी स्पष्ट दिख रहा है। पुरानी जिंदगी रास नहीं आ रही है और तकनीकी युग मानसिक शांति प्रदान करने में असमर्थ है। परिस्थितियों और सामाजिक परेशानियों से घिरा मानव बेबस नजर आ रहा है। बच्चों में नैतिक व सांस्कृतिक मूल्यों की स्थापना करने तथा सम्बन्धों में सामंजस्य तथा दायित्व निभाने की भावना

क्रमशः लुप्त होती जा रही है। कवि विलियम वडर्सवर्थ का कथन सत्य प्रतीत हो रहा है। उनके कथनानुसार - 'The world is too much with us, we have no time to stand and stare.' समाज में तीव्र गति से हो रहे मूल्य परिवर्तन से उपजने वाली समस्याओं से निपटने हेतु प्राचीन व नवीन के साथ कैसे सामंजस्य स्थापित किया जाए, इसका प्रयास करना होगा। हमारी शिक्षा प्रणाली को मानवीय मूल्यों को स्थापित करने में सहायक होना चाहिए।

जैसे- जैसे हम सभ्य और शिक्षित होते जा रहे हैं, लोगों में मानवीय संवेदना, सम्मान, विश्वास जैसे नैतिक मूल्यों का ह्रास होते जा रहा है। प्रतिदिन के अखबार इस बात के प्रमाण प्रस्तुत करते हैं कि तथाकथित शिक्षित समाज में निर्दयता, लालच,शोषण, घात, हत्या, बलात्कार, भ्रष्टाचार, ठगी जैसी दैत्य वृत्ति के कारण यह खोखला हो रहा है। वर्तमान में जितनी भी समस्याएं और चुनौतियां हैं उन सबके मूल में बौद्धिक संभ्रम है। वर्तमान में राष्ट्रीय एकता व अखंडता को निगलने वाले तत्व या आर्थिक विषमता की खाई को चौड़ी करने वाली समस्याएं या सामाजिक जीवन की शुचिता व नैतिकता को ध्वस्त करने वाले तत्व - सबके मूल में बौद्धिक-शैक्षिक कुपोषण ही है। साहित्य का लोकमानस की निर्मिति के अलावा, संस्कृति के संवर्धन में भी योगदान होता है। देश की समस्याओं और चुनौतियों का कारण राजनीतिक प्रदूषण है। जब राजनीति डगमगाती है तो उसे साहित्य ही राह दिखाता है। इसके लिए साहित्य को भी अपने धर्म पथ पर अडिग रहना होगा।

हमारे समाज में नैतिकता ही वह बुनियादी तत्व है जो अच्छे और बुरे का निर्धारण करता है। हमारा समृद्ध साहित्य ही भारतीय साहित्य और भारतीय संस्कृति में आत्मनिरीक्षण तथा पूर्वव्यापीकरण का माध्यम है।

व्यक्ति के जीवन मूल्यों पर ही उसकी प्रतिष्ठा आधारित होती है। दुनिया की कई संस्कृतियां इसीलिए विलुप्त हो गईं क्योंकि उनके मूल तत्व दूषित हो गए थे। भारत की आध्यात्मिकता में भारतीय संस्कृति एवं भारतीय मूल्य निवास करते हैं। बुजुर्गों, माता- पिता, गुरु, अतिथि आदि का सम्मान, पीड़ितों के प्रति करुणा भाव, प्रकृति संरक्षण, अहिंसा, समन्वयवादी दृष्टिकोण, विविधता में एकता ही भारतीय संस्कृति के मूल तत्व हैं।

मानवीय संवेदनाओं का लिखित दस्तावेज होने के नाते साहित्य का उद्देश्य शिक्षा, मनोरंजन,समाज सुधार भी होता है। सूर ,तुलसी, कालिदास आदि कवियों की कृतियाँ आज भी हमें आंदोलित करते हैं। शेक्सपियर ने भी अपने नाटकों द्वारा सामाजिक,नैतिक व मानवीय मूल्यों को बखूबी उभारा है।

इन दिनों 'पर्यावरण' शब्द का अर्थ बहुआयामी हो गया है। प्रदूषण और पर्यावरण आज सर्वव्यापी समस्या बनकर उभरी है। किसी भी प्रकार का प्रदूषण हो, वह विश्व के लिए अहितकर है। संसार का कोई भी धर्म हो, वह सभी वनस्पतियों, पशु-पक्षियों, समस्त जीवों के संरक्षण व अहिंसा का समर्थन करता है। इन समस्त प्रदूषण-संरक्षण के बीच हमारा ध्यान नैतिक प्रदूषण की ओर कम ही जाता है। देश में

नैतिकता की स्थिति चिंतनीय है। दैनिक अखबारों या खबरों द्वारा प्राप्त समाचारों से यह सिद्ध होता है कि हम किस ओर जा रहे हैं? चारों तरफ घूसखोरी, बेईमानी, मिलावट (खाद्य सामग्री से लेकर दवा तक) जमाखोरी, मुनाफाखोरी, ब्लैकमेलिंग, टैक्स चोरी, बिजली चोरी, चुनाव में अनुचित साधनों का प्रयोग, शासकीय सम्पत्ति का क्षति व दुरुपयोग, दंगे - फसाद कराना, धर्म भाषा सम्बन्धी विवाद खड़े करना, आतंकवाद-नस्लवादी भावना को प्रश्रय देना, दूसरों को मानसिक-शारीरिक चोट पहुंचाना, मजबूरी का फायदा उठाना, स्त्रियों के साथ अभद्र एवं अमानवीय घटनाएं हमारे नैतिक प्रदूषण का प्रमाण हैं। जरा-जरा सी बात पर लोग मारपीट पर उतर आते हैं। चंद पैसों या वैमनस्यता के कारण एक दूसरे जान लेने से नहीं हिचकते। पर दुःख कातरता तो जैसे उन्हें छूती भी नहीं है। दुर्घटना में घायल व्यक्ति की मदद की बजाय उसकी वीडियो बनाने लगते हैं। बुजुर्गों व माता-पिता के प्रति संवेदनशीलता एवं सम्मान भाव लुप्त होता जा रहा। एक प्रोफेसर पुत्र अपनी बीमार मां से छुटकारा पाने के लिए उसे छत से गिराकर मार डालता है। ऐसी खबरें मनुष्यता पर प्रश्न चिन्ह खड़ी करती हैं। आज स्वतंत्र भारत में भी मध्यकाल की तरह स्त्रियों को वस्तु रूप में समझा जाने लगा है। प्रतिशोध की भावना की गाज स्त्रियों पर गिरती है। अगर वे किसी को अस्वीकारती हैं तो उन पर तेजाब फेंक दिया जाता है या उन्हें जिंदा जला दिया जाता है। उनके साथ पाशविक कृत्य किया जाता है। लोगों का अमानुषिक कृत्य, नैतिक पतन हमें झकझोर डालता है। लोग आपदा में भी अवसर तलाशते रहते हैं। इस तरह का नैतिक अधोपतन व्यक्ति की स्वार्थपरता, लालच, बुरी संगत, प्रतिस्पर्धा, अकर्मण्यता, अति महत्वाकांक्षा व चरित्रहीनता के कारण है।

वर्तमान में निरन्तर रूप से परिवर्तित हो रहे समाज में व्यक्ति स्वकेन्द्रित होता जा रहा है। वह एक दायित्व विहीन समाज पसंद करता है। उसे एकाकी जीवन रास आने लगा है तथा अपनों के लिए उसके जीवन में कोई स्थान नहीं है। आज के इस भौतिक युग में उच्च स्तरीय जीवन शैली, बदलती मानसिकता, भौतिक चकाचौंध, सम्बन्धों की कृत्रिमता, मूल्यहीनता, मरती संवेदना आदि के कारण मनुष्य संवेदनहीन होता जा रहा है। अत्यंत आधुनिकता स्वच्छन्दता को जन्म दे रही है, वहीं बदलती तकनीक ने मनुष्य को सुविधाभोगी व आलसी बना दिया है। सम्बन्धों की उष्णता आज समाप्त होती जा रही है। आज आवश्यकता इस बात की है कि हम संसार की आध्यात्मिक शक्ति स्रोत ईश्वर की सत्ता में अपनी आस्था एवं विश्वास जगाएं। हमारी संस्कृति विकसित हो। हमारे व्यवहार में, सोच में सद्भावना, प्रेम, त्याग,व सभ्यता झलके। साथ ही हमारे माता पिता, पूर्वज भी हम पर गर्व कर सकें।

आज का समाज गिरते नैतिक मूल्यों के कारण पतन की ओर बढ़ता प्रतीत हो रहा है। स्वार्थपरता इतनी बढ़ गयी है कि लोग अपने सिवा कुछ और नहीं सोचते। ऐसी स्थिति से बचने के लिए हमें अपने साहित्य और संस्कृति की ओर वापस लौटना होगा। साहित्य हमारी सांस्कृतिक धरोहर है। इसके सहयोग से मनुष्य अपनी समस्याओं का समाधान व मानसिक

तनाव कम कर सकता है। साहित्य हमें सत्यता से परिचित कराते हुए जीवन जीने की कला सिखाता है। एक अच्छा साहित्य हमेशा हमारे विचारों व भावनाओं को शुद्ध एवं परिमार्जित करता है।

हमें देशकाल के अनुसार जीवन मूल्यों को पहचान कर समाज तथा राष्ट्र के लिए हितकारी बनना होगा। मूल्यों पर आधारित जीवन यापन करना पड़ेगा। भले ही हमें मूल्यों के निर्धारण में कष्टों का सामना करना पड़े, लेकिन हमें त्याग व सत्य के मार्ग पर चलना है। हमें विज्ञान और अध्यात्म में तादात्म्य स्थापित करके मानव मात्र के संदर्भ में विचार करना होगा। 'वसुधैव कुटुम्बकम' की भावना से प्रेम, शांति व भाई चारे को संसार में स्थापित करना होगा। धर्म, संस्कृति, नैतिकता एक ही सिक्के के दो पहलू की तरह आपस में जुड़े हुए हैं। मानवमात्र के हित में अपना हित ढूंढना जीवन का उद्देश्य होना चाहिए।

****

स्वास्थ्य ही जीवन है।

हमें सदैव अपने स्वास्थ्य के बारे में जागरुक रहना चाहिए और नियमित स्वास्थ्य जाँच करानी चाहिए। हमें अच्छे स्वास्थ्य को बनाए रखने के लिए ताजे फलों, सलाद, हरी सब्जियाँ, दूध, अंडे, दही आदि को रखने वाला सन्तुलित भोजन समय पर करना चाहिए। एक अच्छे स्वास्थ्य के लिए कुछ शारीरिक गतिविधियों, पर्याप्त आराम, स्वच्छता, स्वस्थ वातावरण, ताजी हवा और पानी, व्यक्ति स्वचछता आदि की भी आवश्यकता होती। अस्पतालों के सामने से भी भीड़ को कम करने के लिए अच्छे स्वास्थ्य को बनाए रखना अच्छी आदत है। अच्छे स्वास्थ्य को बनाए रखना अच्छी आदत है, जिसका माता-पिता की मदद से बचपन से ही अभ्यास करना चाहिए।

पहले के दिनों में, जीवन इतना अधिक व्यस्त नहीं था। जीवन बहुत सरल था और इन दिनों की तुलना में स्वस्थ्य वातावरण के साथ कई चुनौतियों से मुक्त था। लोग स्वस्थ थे क्योंकि वे अपने दैनिक जीवन के सभी कार्यों को स्वयं अपने हाथों और शरीर से करते थे। लेकिन आज, तकनीकी संसार में जीवन बहुत सरल और आरामदायक होने के साथ ही प्रतियोगिता के कारण व्यस्त हो गया है।

लोगों को बिना किसी शारीरिक गतिविधि के कार्यालयों में कुर्सी पर लगातार बैठकर कार्य करना पड़ता है। वे घर में देर शाम या रात को आते हैं और घर के किसी भी कार्य या व्यायाम को करने के लिए बहुत अधिक थके हुए होते हैं। फिर से अगली सुबह वे देर से उठते हैं और कुछ आवश्यक कार्यों, जैसे-ब्रश करना, नहाना, नाश्ता करना आदि करते हैं और अपने ऑफिस चले जाते हैं। इस तरह, वे अपनी दिनचर्या को केवल धन कमाने के लिए जीते हैं, न कि अपने स्वयं के जीवन के लिए। अपने दैनिक जीवन की आधारभूत आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए धन कमाना बहुत आवश्यक है, हालांकि, एक स्वस्थ और शांतिपूर्ण जीवन जीना भी आवश्यक है, जिसके लिए अच्छे स्वास्थ्य की आवश्यकता है।

माननीय संस्कृति राज्य मंत्री द्वारा 'सांस्कृतिक शब्दावली' का विमोचन

संस्कृति पत्रिका का विमोचन

हिंदी पखवाड़ा- पुरस्कार वितरण समारोह का आयोजन

राजभाषा कार्यशाला- भारतीय पुरातत्व सर्वेक्षण कार्यालय, औरंगाबाद

राजभाषा कार्यशाला- प्रधानमंत्री संग्रहालय एवं पुस्तकालय, नई दिल्ली

गरबा नृत्य

सत्यमेव जयते

भारत सरकार

संस्कृति मंत्रालय

गरबा नृत्य

सत्यमेव जयते

भारत सरकार
संस्कृति मंत्रालय